कर काजा।' में निहित है। अंगदजीने भी इसी तरह कहा है—*'याको फल पावहिगो आगे।'* (६। ३२)

नोट—२ लङ्कापुरीको जलाना, रावणके दुर्गका नाश करना, बढ़िया-बढ़िया भवनोंको, अन्न-वस्त्र द्रव्यादिको, अस्त्र-शस्त्र यन्त्रालयों इत्यादिको भस्मकर अग्निको तृप्त करना इत्यादि जो कुछ आग लगनेपर करेंगे वह सब इसी बन्धनका बदला है। प्रमाण वाल्मीकीयमें इसका मिलता है—'**भूयः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः। कथमस्मद्विधस्येह बन्धनं राक्षसाधमैः॥ प्रतिक्रियास्य युक्ता स्यात्सति मह्यं पराक्रमे।**' (५। ५३। ३८-३९) अर्थात् पूँछ जलनेपर वे विचार करने लगे कि (मुझसे) व्यक्तिका इन राक्षसोंद्वारा बन्धन कैसे हुआ? यदि मुझमें पराक्रम है तो इसका बदला लेना चाहिये (सर्ग ५३)। पर कोष्ठकान्तर्गत विचार प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। प्रामाणिक प्रतियोंमें नहीं है। विशेष आगे (६) में देखिये।

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥ ६॥
बिनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन*॥ ७॥

अर्थ—मुझे अपने बाँधे जानेकी कुछ भी लज्जा नहीं है। मैं तो अपने स्वामीका काम किया चाहता हूँ॥ ६॥ हे रावण! मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ; तुम अभिमान छोड़कर मेरा सिखावन सुनो॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'न कछु बाँधे कइ लाजा''''''''।'* इससे यह सूचित करते हैं कि हमने अपनेसे अपनेको बँधाया है, इससे मेरे स्वामीका काम निकलेगा। यथा—*'करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥'* (२। १९६) *'न कछु लाजा'* कहनेका भाव कि शत्रुसे परास्त होनेमें वीरको बड़ी लज्जा होती है; यथा—*'मेघनाद कै मुरछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी॥'* (६। ७५) (ख) प्रभुका कौन काम है जो करना चाहते हैं? यहाँ कार्यका नाम नहीं बताया, क्योंकि नाम लेनेसे सब सजग हो जायँगे, पूँछमें अग्नि न लगावेंगे; लंकादहन न हो सकेगा यही काम है। इसपर यह प्रश्न होता है कि वन उजाड़ना, युद्ध करना और लंकादहन इनकी आज्ञा तो प्रभुने दी नहीं थी तब यह उनका कार्य कैसे मान लें? इसका उत्तर यह है कि इसमें हनुमान्‌जीकी इच्छा है। उन्हें *'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥'* इसका बदला लेना है। अथवा इसमें भी हरि-इच्छा है, यथा—*'हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।'* अथवा, श्रीसीताजीको लौटानेकी वार्ता करेंगे यह *'प्रभुकाज'* है। रावणको उपदेश करना, यह प्रभुके मनकी बात है, यथा—*'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'* वही आगे हनुमान्‌जी कहते भी हैं। यथा—*'बिनती करौं''''''''''*'। हनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं। उन्होंने रामजीके मनका काम किया। *'मोहि न कछु बाँधे''''''''''*' यहाँतक प्रश्नोत्तर है, आगे शिक्षा है।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी ऐसा ही कहा है—'**केनचिद्रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम्॥**' (५। ५०। १८) **वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः। वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत्॥ किं नु खल्ववशिष्टं मे कर्तव्यमिह साम्प्रतम्। यदेषां रक्षसां भूयः संतापजननं भवेत्॥ वनं तावत्प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः। बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम्॥ दुर्गे विनाशिते कर्म भवेत्सुखपरिश्रमम्।**' (५। ५४। १—४) अर्थात् कुछ काम रामचन्द्रजीका है, जिसके लिये तेरे पास आया हूँ। (वह कुछ कार्य एक तो समझानेका है, अतः उससे कहा कि) हमारे हितकारी वचन सुनो। पुनः आग लगनेपर सोचा कि हमारा काम अब इतना शेष है कि किलेका नाश करूँ। पुनः, सर्ग ५३ में कहा है कि मैं अकेला लंकाभरके लिये समर्थ हूँ, पर रामकार्यके लिये मैं यह बन्धनका अपमान सह रहा हूँ। यथा—'**छित्त्वा पाशान्समुत्पत्य हन्यामहमिमान्पुनः॥ यदि भर्तृहितार्थाय चरन्तं भर्तृशासनात्। निबध्नन्ते दुरात्मानो न तु मे निष्कृतिः कृता॥ सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि। किं तु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम्॥ लङ्का चारयितव्या मे पुनरेव भवेदिति॥**' (११—१४)—प्रथम कार्य तो यही होगा कि ये लोग मुझे नगरमें घुमावेंगे तो मैं दिनमें नगरके सारे गुप्तस्थान जिनको मैं रातमें नहीं देख सका था भलीभाँति देख लूँगा।

नोट—२ ☞श्रीहनुमान्‌जी-द्वारा हम सबोंको यह उपदेश मिल रहा है कि प्रभुके कार्यसिद्धिके लिये, उनके प्रीत्यर्थ हमें अपने शरीरापमानकी लज्जा न करनी चाहिये। मिलान कीजिये *'मोहि न सोच जग कहइ कि पोचू।'* इस श्रीभरतवचनामृतसे।

---

* 'बिनती''''''।' ११७७ वाँ भेद है। 'सुनहु''''''''।' ११६० वां भेद है—(व्र० चं०)

वि० त्रि०—*'मोहि न कछु.........काजा'* इति। *'देखहुँ अति असंक सठ तोही'* का उत्तर देते हैं कि यदि मैंने कोई अपराध किया होता, तो बाँधे जानेकी लज्जा होती, मैं सिर झुकाकर खड़ा होता, मैं तो बँधकर अपने मालिकका काम किया चाहता हूँ। यदि मैं बाँधा न जाता, तो जो बातें मैं तुमसे करना चाहता हूँ, न कर पाता। मैं तो बँधकर प्रभुका काम कर रहा हूँ। यह सेवकके लिये गौरवकी बात है, लज्जाकी नहीं। यदि कहा जाय कि बँधकर अपने प्रभुका कौन-सा काम करना चाहते हो, तो इसपर कहते हैं कि कुछ अर्ज (निवेदन) करना है। आगेकी चौपाईमें स्पष्ट है।

श्रीलमगोड़ाजी—उपर्युक्त अर्धालियाँ हमारे सत्याग्रह-आन्दोलनके समय जनश्रुति ही बन गये थे और कितने ही चित्र भी इनपर बन गये। विनम्र निवेदन सत्याग्रहका, विशेषकर जब वह सत्य+शील-आग्रह—हो तो कितने प्रबल आयुधका काम करते हैं—यह १७ जुलाई सन् १९४४ ई० के गाँधीजीके उस छोटेसे पत्रसे, जो उन्होंने चर्चिल महोदयको इन्हीं भावोंसे लिखा था और उसके अंग्रेज जातिपर प्रभावसे विदित ही हो गया है। गाँधीजी भी नंगे फकीर (Naked Faqir) कहे जानेसे लजाते नहीं, वरंच प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि मुझे मिलानेसे यह अच्छा है कि आप मुझसे अपनी जाति और उसके द्वारा सारे संसारकी सेवा लें। ☞हाँ, रामचरितमानसके सत्य-शीलाग्रहमें प्रत्युत्तरमें बलका प्रयोग वर्जित नहीं है।

टिप्पणी—३ *'बिनती करौं जोरि कर रावन.........'* इति। (क) तात्पर्य कि अपने प्रभुके कार्यके लिये बँधवाया है और तुम्हारे कार्यके लिये विनय करता हूँ। (ख) *'कर जोरि'* का भाव कि बड़े लोग नम्रता एवं प्रार्थना-पूर्वक उपदेश करते हैं; यथा—*'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।'* (७। ४५) *'कहै बिभीषन पुनि कर जोरी॥'* (५। ४०) हनुमान्‌जी संत हैं। सन्त शत्रुका भी भला ही करते हैं। यथा—*'उमा संत कइ इहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'* (५। ४१)—'[हाथ जोड़नेका भाव ऊपर दिया गया और पूर्व-चौपाइयोंमें भी विनम्र निवेदनसे उपदेश लगनेकी आशा रहती है। हाथ जोड़ना भयका सूचक नहीं है। यह भी सभ्यता है। लोगोंने इसमें भी खींचतान की है, यथा—(१) *'जोरि कर।'* रामजीसे चलकर हाथ जोड़ो (क्षमा माँगो)। (२) मैं जोर देकर कहता हूँ। (३) मैं तुझको बिन (बिना) ती (स्त्री) का कर दूँगा—(मा० शं०)। पर ये सब वाग्विलास हैं, इनका प्रमाण कहीं नहीं मिल सकता। रोज देखनेमें आता है कि दुष्टोंके भी लोग समझानेमें हाथ जोड़ते ही हैं। इसी प्रकार दोनों हाथ जोड़नेके भाव यह कहे जाते हैं कि—इस तरह जनाते हैं कि—मेरा सिखावन लोक और परलोक दोनोंके लिये हितकारी है। अथवा ब्रह्माजी और शिवजी दोनोंने तुम्हें वरदान दिया है, तुम उन दोनोंकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये मेरी शिक्षा सुनो इत्यादि। पर ये सब क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।]—*'सुनहु'* अभीतक *'सुनु'* निरादरसूचक पद देते आये, अब *'सुनहु'* आदरसूचक पद देते हैं। कारण कि उपदेश देनेमें विनती करते हैं। हाथ जोड़ते हैं, अतएव आदरसूचक शब्द दिया और पूर्व प्रश्नोत्तर और भयदर्शन था, इससे वहाँ निरादरका शब्द दिया। (घ) मानी उपदेश नहीं सुनते, यथा—*'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारिसिखावन करेसि न काना॥'* (४। ८) अतः मान छोड़नेको कहा। पर रावणने अभिमान न छोड़ा, यथा—*'बोला बिहँसि महा अभिमानी।'* इसीसे उसे उपदेश न लगा। शिक्षा देते हैं, इसीपर रावण कहेगा कि *'लागेसि अधम सिखावन मोही।'*

गौड़जी—हनुमान्‌जी इस स्थलपर किसी राजाके मन्त्रीकी हैसियतसे एक दूसरे राजा रावणको सिखावन देते हैं और वह भी निहायत अदबके साथ, जैसा दस्तूर है। हनुमान्‌जी सुग्रीवके मन्त्री हैं और भगवान् रामचन्द्रजीके भी मन्त्री हैं, राजनीतिके महान् पण्डित हैं।

देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी। भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी॥ ८ ॥
जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥ ९ ॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै*॥ १० ॥

अर्थ—तुम अपने कुलहीको विचारकर देखो और भ्रमको छोड़कर भक्तोंके भयको दूर करनेवाले प्रभुको

* २२ (८—१०) पायकुलक हैं—(ब्र० चं०)।

भजो॥ ८॥ जिनके डरसे काल अत्यन्त (एवं महाकाल) डरता है, जो सुर, असुर और चराचरमात्रको खा लेता है॥ ९॥ उनसे वैर कदापि न कीजिये, मेरे कहनेसे जानकीजीको दे दीजिये॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) कुलको विचार देखो कि तुम्हारा कुल कैसा है? तुम कैसे उत्तम कुलके हो? यथा—'*उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।*' (६। २०) ['*कुलहि बिचारी*' में यह भी भाव है कि तुम ब्रह्माजीके अत्युत्तम वंशमें उत्पन्न हुए हो तथा पुलस्त्यनन्दन विश्रवाके पुत्र और कुबेरके भाई हो। अतः देख-विचार लो, तुम देहात्मबुद्धिसे भी राक्षस नहीं हो। तुम्हारे पिता, चाचा, पितामह, प्रपितामह सभी भगवद्भक्त हैं। यथा—'**त्वं ब्रह्मणो ह्युत्तमवंशसम्भवः पौलस्त्यपुत्रोऽसि कुबेरबान्धवः। देहात्मबुद्ध्यापि च पश्य राक्षसो नास्यात्मबुद्ध्या किमु राक्षसो नहि॥**' (अध्यात्मरा० ५। ४। १६)]—ईश्वरका भजन करना तुम्हारा कुलधर्म है। अतएव तुम्हें भी कुलधर्मका पालन करना कर्तव्य है। (ख)—'*भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी*'। इति। रावणको श्रीरामजीके ब्रह्म होनेमें भ्रम है, वह उनको प्राकृत नर जानता है। यथा—'*जो भगवंत लीन्ह अवतारा।*', '*जौं नररूप भूपसुत कोऊ।*' (३। २३) '*जान्यो मनुज करि दनुज कानन दहन पावक हरि स्वयं।*' (६। १०३) जबतक संदेह रहेगा तबतक भक्ति नहीं हो सकती। इसीसे '*भ्रम*' को त्याग करनेको कहा। भ्रमके कारण ही उसने वैर किया, इसीसे '*बयरु नहिं कीजै*' भी आगे कहते हैं। '*भगत भय हारी*' का भाव कि जो उनका भजन करते हैं उनका भय वे भक्तवत्सल हरण करते हैं। यथा—'**विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां भजस्व रामं शरणागतप्रियम्।....विमुच्यसे भयात्॥**' (अध्यात्म० ५। ४। २३) (ग) यदि वह कहे कि मुझे किसका भय है, सभी तो हमारे डरसे डरते हैं, यथा—'**पावकु, पवनु, पानी, भानु, हिमवानु, जम, कालु, लोकपाल मेरे डर डावाँडोल हैं।**' (क० सुं० २१) उसपर कहते हैं कि '*जाके डर अति....*' अर्थात् जो काल सुर-असुरको खाता है वह तुमको भी खा सकता है, यह न समझो कि काल तुमसे डरता है। वह अपना अवसर ताक रहा है। तुम कालके वश हो। काल श्रीरामजीको नहीं खा सकता, उनसे डरता है, वे कालके वश नहीं हैं, यथा—'*ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया। जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥' (आ० १३)* अतएव उनसे वैर न करो। [जो काल रावणसे डरता है, वह शाश्वत काल नहीं है। और यहाँ जिस कालको ये कह रहे हैं वह शाश्वत काल है। '**अहमेवाक्षयः कालः।**' (गीता १०। ३३)'*काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥*' (७। ४१। ५) भाव यह कि जब रावणादि यम, धर्मराज, कृतान्त, काल इन नश्वर कालको नहीं डरते तब अक्षय काल ही उनको मारता है। (प० प० प्र०) काल जो लोकपाल वा दिक्पाल देवता है उसको रावणने जीता है। ये देवता तो नश्वर हैं। मन्वन्तरोंमें बदलते रहते हैं। '*लव निमेष परमानु जुग बरष कलप*', कला-मुहूर्तादि विभागवाला जो काल है वह अविनाशी है। गोस्वामीजीने स्वयं कहा है कि काल श्रीरामजीका धनुष है और लव-निमेष आदि प्रचण्ड बाण हैं। ये सब अक्षय हैं। यह काल दुरतिक्रम है।] पुनः, भाव कि तुमको डरता है पर रामजीको '*अति*' डरता है, अतः उनके आगे वह तुम्हें खा ही लेगा। (घ)—'*मोरे कहे जानकी दीजै*' इति। यह वैर मिटानेका उपाय बताया। इस तरह वैर मिटाकर शरण हो, तब वे स्नेह करेंगे, क्योंकि शरणार्थी उनको बहुत प्रिय है। यथा—'*जो सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रानकी नाईं।*'— [पुनः,'*मोरे कहे*' का भाव कि तुमने मेरा पराक्रम देख लिया कि लंकाका कोई वीर सामने न ठहर सका तब अनेक वानर-यूथपतियों और सुग्रीव तथा श्रीराम-लक्ष्मणके आनेपर तुम्हारी क्या दशा होगी यह समझकर मेरा कहना मान लो। मैं तुम्हारे गुरुका अवतार हूँ, अतः तुम्हें शिक्षा माननी चाहिये।] पुनः, 'वैर कभी भी न करो' का भाव कि वैरके अनेक कारण होते हैं, यदि विरोधका कारण भी कुछ हो तो भी वैर न करो, क्योंकि वैरसे भलाई नहीं, यथा—'*तिन्ह सन बयरु किये भल नाहीं।*' (३। २५) (ङ) 'मेरे कहनेसे दो।' का भाव यह भी है कि इससे तुम्हारा मान भी रहेगा कि रामदूतने आकर हाथ जोड़कर विनती की तब रावणने जानकीजीको दिया।

टिप्पणी—२ ☞ रावणको अभिमानी जानकर सभी समझानेवालोंने ऐसा ही कहा है। यथा—'*जनकसुता रघुनाथहि दीजै। एतना कहा मोर प्रभु कीजै॥*' (५। ५७) '*तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार॥*' (५। ४०) आगे शरण होनेको कहते हैं। तात्पर्य यह कि बड़ेसे वैर न करो और न बराबरका दर्जा मानकर प्रीति करो; क्योंकि प्रीति और विरोध समानसे किया जाता है, यथा—'*प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि।*' (६। २३) [प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ '*जानकी दीजै*' कहनेपर भी रावण रुष्ट न हुआ। कारण कि हनुमान्‌जीके वचन संदिग्ध हैं। '*भजहु भगत भय हारी*' से रावणने यह अर्थ लिया कि भक्तभयहारी शिवजीको भजनेको कहता है सो मैं उन्हें भजता ही हूँ, उनसे मेरा वैर है ही नहीं, उनको यह जानकी देनेको कहता है यह पागलपन है। दोहेमें '*रघुनायक खरारि*' की शरण जानेको कहा है पर रावण सोचता है कि रघुनायक तो भरत हैं और वे खरारि नहीं हैं। जब '*भजहु राम रघुनायक*' कहेंगे तब क्रोध करेंगे।]

टिप्पणी—☞ ३ (क) सिखावनके लिये मान बाधक है, अतः कहा कि '*सुनहु मान तजि मोर सिखावन।*' भ्रम भजनका बाधक है, अतः कहा कि '*भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी।*' वैर जानकीजीके लौटा देनेमें बाधक है, अतः कहा कि '*तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥*' (ख) '*जानकी दीजै*' का भाव कि जैसे जनकमहाराजने अर्पण किया वैसे ही सुताभावसे दो। यथा—'*हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥*' (१। ३२४) इसी भावसे औरोंने भी कहा है, यथा—'*जनकसुता रघुनाथहिं दीजै।*' (५। ५७ शुकवाक्य), '*रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।*' (६। ६ मन्दोदरीवाक्य) और '*सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥*' (६। २०) तथा यहाँ '*मोरे कहे जानकी दीजै।*' [पुनः भाव कि जैसे श्रीजनकमहाराजने श्रीजानकीजीको श्रीरामजीके करकमलोंमें समर्पण करके जगत्‌में कीर्ति पायी, वैसे ही तुम भी श्रीरामजीकी खोयी हुई श्रीजानकीजीको अर्पण कर संसारमें कीर्ति लाभ करो। (मा० त० सु०)] वाल्मीकीयमें यही कहा है '**तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुयायि च। मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम्॥**' (५। ५१। २१) अर्थात् मैंने जो कुछ कहा है वह तीनों कालोंमें हितकर, धर्मयुक्त और शास्त्रसम्मत है। अतः मेरा कहना मानकर नरेन्द्र श्रीरामजीको श्रीजानकीजी लौटा दो।

दो०—प्रनतपाल रघुनायक करुणासिंधु खरारि।
गए सरन प्रभु राखिहैं* तव अपराध बिसारि॥ २२॥ †

अर्थ—रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी प्रणत (अर्थात् प्रणाममात्र करनेवाले, विनम्र वा दीन होकर आनेवाले प्राणियों) के पालनेवाले, करुणा (अर्थात् पराया दुःख देखकर स्वयं दुःखी हो जाने और दुःख दूर करनेमें तत्पर होनेका भाव) के समुद्र हैं, खरके शत्रु है, शरणमें जानेपर तुम्हारा अपराध भुलाकर प्रभु तुम्हें अपनी शरणमें रखेंगे॥ २२॥

टिप्पणी—१ (क) '*रघुनायक*' विशेष्य है और प्रणतपाल, करुणासिंधु और खरारि उसके विशेषण हैं। (ख) तीन विशेषण देकर जनाया कि (१) प्रणतके लिये ये तीनों गुण धारण करते हैं। उसे पालते है, पालन रजोगुण है। उसपर करुणा करते हैं, यह सत्त्वगुण है। उसके लिये खर आदिको वा खलोंको मारते हैं, यह तमोगुण है। वे रघुनायक हैं, अतः प्रणतको सब कुछ देते हैं—यह विशेष्यका भाव हुआ। [नोट—यहाँ '*प्रनत*' शब्द देकर जनाया कि शरणागतकी तो बात ही कौन, केवल विनम्र होनेसे, एकमात्र उनको प्रणाम करनेसे वे पालनमें तत्पर हो जाते हैं। यथा—'*सकृत प्रनामु किहें अपनाए।*' (२। २९९) '*रघुनायक*' अर्थात् वे जीवमात्रके स्वामी हैं, वे प्रणत जीवमात्रपर करुणा करते हैं, एवं रघुकुलमें जितने

* राखिहैं—भा० दा०, छ०, १७२१। राखिहें—१७६२। राखिहै—को० रा०। राखिहि—१७०४, का०।
† दोहरा दोहा मिश्रित है।

राजा हुए हैं उन सबमें वे श्रेष्ठ हैं तथा उस रघुकुलके स्वामी हैं जिसमें सभी राजा शरणागतपालक हुए, अपने हानि-लाभका विचार छोड़कर सदा धर्मपर दृढ़ रहे; यथा—*'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा॥'*; तब ये क्योंकर प्रणतपाल आदि न होंगे? *'करुनासिंधु'* से जनाया कि कितना ही अपराध किया हो तो भी कोप नहीं करते, यथा—*'अपराधिहु पर कोह न काऊ।'* (२। २६०) *'खरारि'* से जनाया कि वे भगवान् ही हैं, खरारि किसी औरसे न मर सकते थे; यथा—*'खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥'* (३। २३)—(ये स्वयं रावणके विचार हैं)। भगवान् हैं, अतएव शरण जानेमें तुमको लज्जा न होनी चाहिये। शरण न जाओगे तो तुम भी मारे जाओगे। शरणागतके लिये वे करुणासिंधु हैं और विमुखोंके लिये 'खरारी' रूप हैं।] अथवा, प्रणतपाल विरद हैं, रघुनायक हैं अर्थात् उत्तम कुल है, करुणासिन्धुस्वभाव हैं, खरारी हैं, दुष्टोंको मारते हैं यह आचरण है। अतएव शरण होनेपर*'राखिहैं'* अर्थात् रक्षा करेंगे, वध न करेंगे, यथा—*'नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गए न खाई॥'* पुनः *'राखिहैं'* अर्थात् त्याग न करेंगे, यथा—*'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥'* (४४। १) (ग) *'तव अपराध'* अर्थात् तूने जो अपराध किया है यह क्षमा करने योग्य नहीं; पर वे 'प्रभु' हैं', समर्थ हैं, वे ऐसे भी अपराधको, क्षमाकी कौन कहे, भुला ही देते हैं।

रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू॥ १॥
रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ* कलंका॥ २॥†

अर्थ—तुम श्रीरामजीके चरणकमलोंको हृदयमें धारण करो और लंकाका अचल राज्य करो॥ १॥ पुलस्त्य ऋषिजीका यश निर्मल चन्द्रमा है, उस चन्द्रमें कलंकरूप मत हो॥ २॥

नोट—१ *'प्रनतपाल रघुनायक'''''॥'* *'रामचरन पंकज उर धरहू।'* इति। इसमें जो श्रीहनुमान्‌जीने उपदेश किया है वह वस्तुतः चरममन्त्रका अर्थ ही है। चरममन्त्रमें चार अर्थ होते हैं—तात्पर्यार्थ, वाक्यार्थ, प्रधानार्थ तथा अनुसन्धानार्थ, यथा—**'तात्पर्यार्थोऽस्य विज्ञेय आचार्यरुचिसंश्रयः। वाक्यार्थस्तु मतोऽभिज्ञैरेष निर्णीयते बुधैः॥ प्राप्य प्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम्। प्रधानार्थस्तु तद्युग्मकैंकर्यस्य प्रधानता। स्वदोषाभ्यनुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते। एवमेवानुसन्धेयं मोक्षकामैरहर्दिवम्॥'** श्रीहनुमान्‌जीके इस उपदेशका तात्पर्य यही है कि इसको ग्रहण करनेसे श्रीरघुाथजी प्रसन्न होंगे—यही 'आचार्यरुचिसंश्रय' या 'तात्पर्यार्थ' है। मन्त्रके *'प्रनतपाल' 'रघुनायक'* शब्दोंमें प्राप्य ब्रह्मका स्वरूप कहा और *'सब अपराध'* में प्रापक जीवका स्वरूप कहा। इन्हींमें दोनोंका सम्बन्ध भी दिखा दिया—जीव अपराधी है और प्रभु *'सब अपराध बिसारि'* रख लेते हैं, क्योंकि वे रघु (जीवमात्र) के स्वामी हैं, करुणासिंधु हैं एवं प्रणाममात्रसे पालन करनेवाले हैं।—यही वाक्यार्थ है। ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण जो *'प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु''''गए सरन प्रभु राखिहैं'* में है तथा प्रभुके कैंकर्य *'रामचरन पंकज उर धरहू।'* का उपदेश इस मन्त्रका प्रधानार्थ है। जीवका अपनेको सदा दोषयुक्त अपराधी समझना—यह भाव *'तव अपराध बिसारि'* में निहित है और प्रभुकी ओरसे प्रणत एवं शरणागतके रक्षण-पालनकी आतुरता *'करुनासिंधु'* और *'खरारि'* शब्दोंमें स्पष्ट झलक रही है। प्रभु करुणावश तुरंत द्रवीभूत होकर सोचने लगते हैं कि क्या उपाय करूँ कि जिससे इसका दुःख तुरत दूर हो जाय और उसके शत्रुओंके नाशके लिये सदा धनुष-बाण लिये तैयार रहते हैं।—यही अनुसन्धानार्थ है।

टिप्पणी—१ (क) रामचरणकमलको हृदयमें धारण करनेको प्रथम कहकर श्रीरामचरणारविन्दको लंकामें राज्य करनेका आधार जनाया। चरणको उरमें धरनेका भाव कि चरणोंका धर्म चलना है, इन्हें *'उर धरहू'* अर्थात् हृदयसे ये चलायमान न होने पावें तभी लंकाका राज्य भी अचल होगा। पुनः भाव कि अभी तुम्हारे हृदयमें मान और भ्रम भरा है, उनका त्याग करो और उनकी जगह चरणकमलोंको बसाओ। पुनः; चरणको कमल

---

* होउ—भा० दा०। होहु—रा० प्र०, गी० प्रे०, ना० प्र०।

† २३ (१), 'रिषि''''मयंका'—पायकुलक। 'तेहि''''' चण्डी है। (ब्र० चं०)

कहकर उरमें धरने और अचल राज्य करनेका भाव कि कमलमें लक्ष्मीका वास है और चरणोंकी उपासना भी लक्ष्मीजीकी है अर्थात् वे सदा चरणोंके समीप ही बसती हैं। अतएव चरणोंको हृदयमें धारण करनेसे तुमको अचल राज्यकी प्राप्ति होगी। (ख) *'अचल राजु करहू'* का भाव कि 'श्री' परम चंचल है, वह स्थिर नहीं रहती; यथा—*'जद्यपि परम चपल श्री संतत, थिर न रहति कतहूँ। हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ, करम-बचन-मनहूँ॥'* (विनय० ८६) वे भी हरिपद प्राप्त करके ही अचल हुई हैं। तुम लंकाका राज्य तो करते हो पर वह अचल नहीं है। इसको अचल करना चाहते हो तो 'रामचरण-पंकज' को अचलरूपसे हृदयमें बसाओ। श्रीरामजीके चरणकमलोंमें लक्ष्मीजी चरण-चिह्नरूपसे अचल बसी हुई हैं। अतएव हृदयमें श्रीरामचरणाविन्दोंको बसा लेनेसे तुम्हारे यहाँ श्रीजी अचल होकर रहेंगी। इससे यह जनाया कि तुमने जिनसे यह ऐश्वर्य पाया है वे ब्रह्मा और शिव भी तो अचल नहीं हैं, तब उनका दिया हुआ ऐश्वर्य कब अचल हो सकता है और तुम्हारे इष्टदेवोंने भी तो इन्हीं चरणोंकी सेवासे सिद्धि प्राप्त की है। यथा—*'जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकरहूँ।""सकल सुर, असुर-ईस सब खाये उरग छहूँ॥'* (विनय० ८६) (ग) चरणकमलोंको हृदयमें धारण करनेसे अचल हो जाओगे, कालका भय न रह जायगा, यथा—*'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥'* (मा० त० सु०) (घ) वंदन पाठकजी—भाव कि जिस उरमें परद्रव्य, परद्रोह और परनारि धरे हों, उसमेंसे उन सबोंको निकालकर रामचरण-कमलको रखो, जिसमें हृदय शीतल हो।]

टिप्पणी—२—*'रामचरन पंकज उर धरहू'* से परलोकका सुधरना और *'लंका अचल राज तुम्ह करहू'* से इह लोकका बनना कहा।

टिप्पणी—३—*'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका',* यथा—*'मुनि पुलस्त्यके जस-मयंक महँ कत कलंक हठि होहि।'* (गी० ६। १) प्रथम कहा कि *'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी',* उसीके अर्थको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि तू पुलस्त्यकुलोद्भव है, इसीसे पौलस्त्य नाम भी है और पुलस्त्यकुलमें सभी भजनानन्दी होते आये हैं, यही विमलयश-चन्द्र है, इसमें कलङ्क न बन। इस कुलमें भगवान्‌का वैरी उत्पन्न होना, परतियगामी होना, उस निर्मलयश-चन्द्रमें धब्बा लगाना है, इन आचरणोंसे वह कुल कलङ्कित हो जायगा, कोई पुलस्त्यजीका नाम भी न लेगा, सभी इसे कलङ्की चन्द्रके समान त्याग करेंगे। पुनः—[*'बिमल मयंका'* का भाव यह कि वह मयंक परम स्वच्छ रहनेपर भी गुरुपत्नीगमनरूपी कलङ्कसे कलङ्कित है, किन्तु पुलस्त्य-यशोमयंक विमल और निष्कलङ्क रहा है]। *'शशि कलङ्क'* पर *'चले जहाँ रावन ससि राहू।'* (३। २८। ६) देखिये।]

रामनाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥ ३॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥ ४॥
रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई*॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामनाम बिना वाणी शोभित नहीं होती। मद और मोहको त्यागकर विचार देखो॥ ३॥ हे सुरारि (देवताओंके शत्रु)! सब (अर्थात् बारहों) भूषणोंसे भूषित सुन्दर श्रेष्ठ स्त्री भी बिना वस्त्रके (नंगी) नहीं शोभित होती॥ ४॥† रामविमुखकी 'रही, पाई और बिनु पाई' सभी सम्पत्ति और प्रभुता व्यर्थ है॥ ५॥

टिप्पणी—*'रामनाम बिनु""'* इति। रावण रामनाम कभी नहीं लेता था। क्योंकि वह उनको शत्रुभावसे भजता था। इसीसे वह श्रीरामजीके लिये नृप, रिपु, नर, तापस, भूप, मनुज, इत्यादि ही शब्दोंका प्रयोग करता था। यथा—*'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृप नारी॥'* (३। २५) *'रिपु उतकरष*

* 'रामनाम""मोहा।' (३), 'सब भूषन भूषित' से 'सुखाहीं।' (६) तक पायकुलक है; 'बसनहीन""।' द्रुतपा है। (ब्र० चं०)

† यथा —'रामनामविहीनास्तु न शोभन्ते गिरस्तथा। सर्वभूषाभूषितास्तु यथा नार्यो निरंशुकाः॥' (वैष्णवधर्मरत्नाकर-रामनाममाहा०)

कहत सठ दोऊ।' (५। ४०) *'रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा।''''मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।'* (५। ४१), *'कहु तपसिन्हकै बात बहोरी।'* (५। ५३) *'कहसि न रिपुदल तेज बल''''* (५। ५३), *'रिपुकर रूप सकल तैं गावा।'* (६। १६) *'निज मुख तापस दूत कहाएहु।'* (६। २१), *'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।'* (६। २५), *'भूप सुजस खल मोहि सुनावा'* (६। २८), *'जिन्हके बल कर गर्ब तोहि ऐसे मनुज अनेक।'* (६। ३०), *'हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई।'* (६। ७९), *'देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा।'* (६। ७८), *'सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं।' ''''जौं रन भूप भाजि नहिं जाहीं।'* (६। ९०) इत्यादि। इसीपर कहते हैं कि बिना नामके शोभा नहीं। अर्थात् कुलको अशोभित न करो। पुनः भाव कि तुम्हारी वाणी जो वेदभाष्य है, सो भी बिना रामनामके नहीं शोभित है।*'भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥ बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥'* (१। १०) में इसकी व्याख्या देखिये।—[श्री रामनामसे विमुख होनेसे वेदादिका पण्डित होना भी व्यर्थ है; यथा—*'कीबे कहा, पढ़िबे को कहा, फलु, बूझि न बेदको भेदु बिचारैं। स्वारथको परमारथको कलि कामद रामको नामु बिसारैं'''' ॥'* (क० ७। १०४) रामनामरहित वाणीकी, चाहे वह शास्त्र, स्मृति, संहिता आदि कोई भी काव्य क्यों न हो, गणना वाणीमें नहीं है। यथा—**'शास्त्रं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः। न संहिता यत्र न रामदेवो न सा स्मृतिर्यत्र न रामचन्द्रः।''''** ' (पद्मपुराण) अतः कहा कि *'रामनाम बिनु गिरा न सोहा।'* भाव कि तब जीव बिना रामनामके कैसे शोभित हो सकता है? (बै०) इसीसे कहते हैं कि *'देखु बिचारि।'* अर्थात् बिना ज्ञान-वैराग्यरूपी हृदयके चक्षुओंसे देखे यह न समझ पड़ेगा और ये नेत्र बिना मद-मोह त्यागे नहीं खुलते; यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* मोहसे मनुष्य अन्धा बना रहता है, पुनः, मद और मोह विचारके बाधक हैं, अतः उनको छोड़नेको कहा।]

टिप्पणी—२ (क) जैसे वस्त्रहीन स्त्री नहीं शोभा पाती, वैसे ही वाणी सब आभूषणों (अर्थात् अलंकार, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि आदि) से युक्त हो तो भी बिना रामनामके नहीं शोभा पाती। *'बर नारी'* अर्थात् युवावस्थावाली, स्वरूपसे सुन्दर और सौभाग्यवती। सब आभूषणोंके पहननेका अधिकार सावित्रीको ही है; अतः *'बर नारी'* कहा। *'बसनहीन'* का भाव कि जैसे नग्न स्त्रीको न देखना चाहिये, वैसे ही रामनामरहित कविताको भी न देखना चाहिये। *'सुरारी'* का भाव कि ऐसा विद्वान् होकर देवताओंसे वैर करना शोभा नहीं देता। पुनः, [(ख) *'सब भूषन भूषित'* का भाव कि बुद्धिरूपी स्त्री सोलहों प्रकार पूजोपचारमें निपुण हो, द्वादशगुण (शील, लज्जा, सत्य, धर्म, स्वच्छता, साधुता, सहनशीलता, सन्तोष, दया, ज्ञान, वैराग्य, गुरुसेवा) रूपी विभूषणोंसे युक्त हो, बत्तीस अंगरूपी आभरणोंसे युक्त हो, तो भी श्रीराघवजीकी शुद्ध शरणागतिरूपी वस्त्रके बिना नहीं शोभित होती। (मा० त० सु०) यहाँ *'रामनाम'* वस्त्र है, रावण वा रावणकी वाणी *'बर नारी'* है, तपार्जित समस्त ऐश्वर्य एवं वेदपाण्डित्य, कुल, बल, वीरता आदिकी श्रेष्ठता इत्यादि *'सब भूषन'* हैं। *'रामनाम बिनु गिरा न सोहा'* उपमेय वाक्य है और *'बसनहीन''''बर नारी'* उपमान वाक्य है, 'न सोहना' यही दोनोंका एकधर्म है। यह 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है। (वीर) दीपककारका मत है कि—*'गिरा कुमारी रेफ पट, पँचरँग ते रँग धारि। सुने पुन्य रित नग्नवत, शठ तूँ गिरा उघारि॥'* (३५) अर्थात् तेरी वाणी 'कुमारी' स्त्री है, 'रेफ' वस्त्र है, पञ्चरङ्गविशिष्ट रामनाम पँचरँगी चुनरीवत् है—प्रथमाकार पीत, द्वितीयाकार श्याम, व्यंजन श्वेत, बिन्दु अरुण तड़ितवत्, अन्तिम अकार नील। (दीपकचक्षुसे)]।

टिप्पणी—३ *'जाइ रही पाई बिनु पाई।'* (क) 'रही'=भूतकालमें मिली हुई 'पाई=वर्तमान कालमें जो प्राप्त है। '**बिनु** पाई'=जो भविष्यमें प्राप्त होनेवाली है। **जाइ** (जाय)=व्यर्थ, यथा—*'जाय जीव बिनु देह सुहाई।'* अथवा, (ख)—'**जाइ रही**'=चली जायगी। '**पाई**' (=पाई हुई; पूर्वकालमें वा वर्तमानकालमें प्राप्त की हुई सम्पत्ति) *'बिनु पाई'* (मानो पायी ही नहीं थी) सी हो जायगी। यही बात आगे कहते हैं—*'बरषि गये पुनि तबहि सुखाहीं।'* अर्थात् वर्षा होनेपर नदीमें जलका आ जाना (किसी सुकृतसे) '**पाई**' (हुई सम्पत्ति) के समान है और फिर वर्षाके हो जानेपर नदीके जलका सूख जाना (पुण्योंके क्षीण हो

जानेपर) *'बिनु पाई'* सम्पत्तिके समान है; मानो वर्षा हुई ही न थी, जल कभी था ही नहीं, सम्पत्ति कभी थी ही नहीं।—[नोट—इसके और भी अनेक प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं।—(ग) *'रही'* अर्थात् जो सम्पत्ति है, वह *'जाइ'* (जाती रहती है), *'पाई'* (जो किसी प्रकार पायी है) वह न पायी समान हो जाती है। (पं०) (घ)—रामविमुखकी सम्पत्ति जो *'रही'* वह भी *'जाइ'* (व्यर्थ ही है)। क्योंकि परमार्थका साधन नहीं है। और जो प्रभुता *'पाई'* अर्थात् हुई भी वह न हुईके समान है क्योंकि संतोंके मतमें वह नहीं ही है। (पं०) (ङ)—*'पाई'* (=जिसके पाँव हैं अर्थात् जंगम जैसे हाथी, घोड़े आदि) और *'बिनु पाई'* (=जिनके पैर नहीं हैं जैसे कि भूमि, महल आदि), चर और अचर दोनों जाते रहेंगे। (पाँ०) (च)—सम्पत्ति और प्रभुताई जाती रहेगी और *'बिनु पाई'* (जो तूने नहीं पायी है अर्थात् दु:ख और विपत्ति वा मोक्ष आदि वह तू) *'पाई'* (पायेगा)। (पाँ०) (छ)—जो तूने इस समय पायी है वह *'बिनु पाई'* अर्थात् विभीषणजीके यहाँ *'जाइ रही'* जाकर रहेगी। यथा—*'सो संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ।'* (मा० त० सु०) (ज) 'बिनु पाई'=शून्य (०) बराबर। (करु०) ☞ अन्तिम चार अर्थ तो वाग्विलासमात्र हैं।]

टिप्पणी—४—प्रथम *'रामनाम बिनु गिरा न सोहा।'* कहकर वाणीकी अशोभा कही और अब *'रामबिमुख बिनु पाई'* से लक्ष्मीकी अशोभा कहते हैं। *'संपति प्रभुताई'* लक्ष्मीजीके ही कृपाकटाक्ष हैं। दोनोंके कथनका अभिप्राय यह है कि दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं, भगवान्‌के बिना वे शोभा नहीं पा सकतीं। भगवान् गिरापति हैं, यथा—*'तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी॥'* वाणीका सम्बन्ध रामनामसे है, वाणीसे रामनाम उच्चारण किया जाता है; इसीसे रामनाम बिना वह शोभा नहीं पाती। श्रीरामजीके लिये लक्ष्मीका खर्च करे तब उसकी शोभा है।—[श्रीलक्ष्मीजी भगवान्‌की पत्नी हैं अत: माता हैं। जीव उन जगज्जननीका स्वयं पति बन बैठता है। कितना घोर पाप करता है। इसीसे वे रुष्ट हो जाती हैं। उनको प्रभुकी जानकर समस्त सम्पत्ति और प्रभुत्वको प्रभुके ही अर्पण कर देने, उन्हींके कार्यमें लगा देने, सत्कर्मोंमें उसको खर्च करनेसे ही उसकी शोभा है। स्वयं उसका एक ट्रस्टी, अमानतदार, रक्षक आदि बनकर रहे; यथा—*'संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही॥'* (२। १८। ५)] (ग) विमुख होनेमें सम्पत्ति चली जाती है, इसीसे *'जाइ रही'* कहा। रामनाम बिना वाणी लक्ष्मीकी तरह चली नहीं जाती, किन्तु बनी रहती है, पर उसकी शोभा नहीं रहती; अत: इसके लिये *'न सोहा'* कहा। पुन:, (घ)······*'रामचरन पंकज उर धरहू'* यह हृदयका भजन है, *'रामनाम बिनु गिरा न सोहा'* यह वचनका भजन है और सम्पत्तिसे सत्कर्म करके रामजीको अर्पण करे, यह कर्मका भजन है। इन तीन बातोंको कहकर जनाया कि मन, वचन, कर्मसे भजन करो। वह मन, कर्म, वचनसे हरिविमुख है, इसीसे ऐसा कहा।

सरितमूल* जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥ ६॥
सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥ ७॥
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही†॥ ८॥

अर्थ—जिन नदियोंमें 'सरितमूल' (अर्थात् पहाड़ या सर जहाँ अथाह जल भरा है और सदा बहता रहता है) नहीं है (केवल वर्षाजल पाकर ही जो बहती हैं), वे वर्षा-ऋतु व्यतीत हो जानेपर फिर तुरन्त

* सरित—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सजल—१७०४, कोदवराम, गी० प्रे०। 'सजल' पाठसे अर्थ होना—'जिन नदियोंके मूल सजल नहीं हैं।' वा 'जिन नदियोंमें जलसंयुक्त मूल (जहाँसे जल निरंतर बहता ही रहे) नहीं है। 'सरित' पाठमें 'सरितमूल' एक शब्द है, जिसका अर्थ 'नदीका मूल=जलस्रोत=पहाड़, सर आदि जहाँसे निरंतर जल बहनेपर भी वह अगाध ही बना रहता है।' पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि प्राचीन पाठ 'सजलमूल' है। 'सरितमूल' पाठ माननेसे भी घूमकर सजलमूल ही अर्थ करना पड़ता है।

† 'सुनु····।' तामस; 'बिमुख····' 'संकर····' पायकुलक और 'सकहि····द्रोही' जयमालिनी है। (ब्र० चं०)

ही सूख जाती हैं। मानो पानी कभी रहा ही नहीं॥ ६॥ हे दशग्रीव! सुनो, मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि श्रीरामजीसे विमुख होनेपर कोई भी रक्षक नहीं हो सकता (अर्थात् तुम्हारे राज्य, कुल और सुन्दर वाणी अर्थात् विद्या, सम्पत्ति और शरीर सभी नष्ट हो जायँगे)॥ ७॥ हजारों शंकर, हजारों विष्णु और हजारों ब्रह्मा भी श्रीरामजीके शत्रुकी रक्षा नहीं कर सकते॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'सरितमूल जिन्ह''''''*** इति। सम्पत्तिकी उपमा नदीसे देकर जनाया कि रामविमुखकी सम्पत्ति निर्मूल नदीके सदृश है, जिसका सब पानी बह जाता है। ***'सरितमूल'*** मूल स्रोत श्रीरामजी हैं, सम्पत्ति और प्रभुता नदी है, यथा—***'रिधि सिधि संपति नदी सुहाई।'*** सुकृत मेघ हैं, यथा—***'सुकृत मेघ बरषहिं सुखबारी।'*** भाव यह कि किसी सुकृतसे सम्पत्ति प्रभुताई हुई भी तो शीघ्र ही नष्ट भी हो जाती है जैसे निर्मूल नदी। पुण्य क्षीण हुए कि सब ऐश्वर्यादि गये। पुनः, रामभजन, श्रीरामजीकी शुद्ध शरणागति, श्रीरामसम्मुखता ही अचल सम्पत्ति एवं प्रभुतारूपिणी नदियोंका अचल ***'सरितमूल'*** है जो सदा परिपूर्ण ही बना रहता है। समूल नदी अचल रहती है। वैसे ही जो सम्पत्ति या प्रभुता श्रीरामजीसे सम्बद्ध है, वही अचल है। यहाँतक 'सिखावन' है। आगे भयदर्शन है।

टिप्पणी—२ (क) ***'दसकंठ'*** का भाव कि (कोई रक्षक नहीं है, अतएव) तेरे दसों सिर काटे जायँगे। [यथा—***'सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'*** (३। २)] ***'कहौं पन रोपी'*** का सम्बन्ध ***'संकर''''''*** से भी है। पहले कहा कि रामविमुखका कोई रक्षक नहीं और अब कहते हैं कि तू तो विमुख ही नहीं, किंतु द्रोही है; अतएव तेरी रक्षा तो त्रिदेव भी यदि आ जायँ तो भी नहीं कर सकते; यथा—***'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥'*** (३। २) (ख) हजारों त्रिदेव भी रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि श्रीरामजीके ही बलसे उन सबोंमें बल है; यथा—***'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत हरत सृजत दससीसा॥'*** पुनः, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब रामजीके अधीन हैं, यथा—***'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥'*** (१। ५४) (ग)—रावणकी सम्पत्ति सब शिवजीकी दी हुई है; यथा—***'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ।'*** शरीरका बल भी शिवजीने ही दिया; यथा—***'सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए। एक एक के कोटिन्ह पाए॥'*** (६। ९३) अतएव रक्षकोंमें श्रीशिवजीका नाम आदिमें दिया।

नोट—१ ***'त्राता नहिं कोपी।''''राम कर द्रोही॥'*** इति। वाल्मीकीयमें भी श्रीहनुमान्‌जीके ऐसे ही वचन हैं। वे कहते हैं—'**देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः। रामस्य लोकत्रयनायकस्य स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे॥ ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥**' (५। ५१। ४३-४४) अर्थात् हे राक्षसराज! देव, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग और यक्ष कोई भी युद्धमें त्रैलोक्यनायक श्रीरामचन्द्रजीके सामने खड़े रहनेको समर्थ नहीं। स्वयम्भू चतुरानन श्रीब्रह्माजी, त्रिपुरासुरके संहारकर्ता त्रिलोचन रुद्र अथवा देवताओंके राजा महेन्द्र इन्द्र ही क्यों न हो, युद्धमें श्रीराघवके सामने कोई भी रामवध्यकी रक्षा करनेको समर्थ नहीं है। भाव यह है कि जबतक तू चराचरद्रोही रहा तबतक ही शिवादि वर प्रदानादिद्वारा तेरी रक्षा करते रहे, पर जब तू रामविमुख हुआ, वरदाताओंके स्वामीका ही अपराध तूने किया तब वे कैसे रक्षा कर सकते हैं? उनसे बिगाड़ कर तू सुखी नहीं रह सकता। '**न चापि त्रिषु लोकेषु राजन् विद्येत कश्चन। राघवस्य व्लीकं यः कृत्वा सुखमवाप्नुयात्॥**' (वाल्मी० ५। ५१। २०) ☞ ***'त्राता नहिं कोपी'*** में उपर्युक्त श्लोक ४३ का भाव आ गया और ***'संकर सहस''''''*** में श्लोक ४४ से विशेषता यह है कि वहाँ तो ब्रह्मा, स्वयम्भू और चतुरानन तीन नाम देकर तीन ब्रह्मा और रुद्र, त्रिनेत्र और त्रिपुरान्तकसे तीन शङ्कर कहे गये हैं और यहाँ सहस्र शङ्कर, सहस्र ब्रह्मा और सहस्र विष्णु कहे गये। विष्णुका नाम श्लोकोंमें नहीं है। विष्णुको भी यहाँ कहकर गोस्वामीजी यहाँ अवतारी श्रीरामजीका अवतार होना सूचित कर रहे हैं। ***'संकर'*** नाम देकर यह भी जनाया कि जिनको तू अपना कल्याणकर्ता मानता है, वे भी रक्षा

नहीं कर सकते। मिलान कीजिये—'*ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥*' (३। २। ४-५)

दो०—मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान॥ २३॥*

अर्थ—मोहका मूल कारण (वा, मोह जिसका मूल है), बहुत शूलोंका देनेवाला तमोगुणी अभिमान छोड़ दो। रघुनायक (रघुकुल एवं जीवमात्रके स्वामी), दयासागर, भगवान् (षडैश्वर्यसम्पन्न) श्रीरामजीका भजन करो॥ २३॥

नोट—१ '*मोहमूल*' का दूसरा अर्थ इससे किया गया कि मोहको '*सकल ब्याधिन्ह कर मूला*' कहा है और अहंकार तथा मानको व्याधियोंमें गिनाया गया है। यथा—'*अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ॥*' (७। १२१) रावणमें मोह और अभिमान दोनों हैं। मोहवश श्रीरामजीको मनुष्य समझता है और अभिमानवश है कि समस्त देव-दानव मेरे वश हैं, मुझसे कौन जीत सकता है। इसीसे सीताहरण किया। यथा—'*नृप अभिमान मोह बस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा॥*' (अङ्गदवाक्य) वही हनुमान्‌जीने कहा है—'*हरि आनेहु*……'।

नोट—२—काम, क्रोध और लोभ आदि शूल हैं जिनसे सन्निपात हो जाता है, जिसका परिणाम मरण है। रावणमें यह सब कहे गये हैं; यथा—'*सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि काल बस खल मनुजादा॥*' (६। ३२) (अङ्गदवाक्य); '*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥*' (५। ३८, विभीषणवाक्य) '*परिहरि*' से सूचित किया कि ये सब दोष रावणमें हैं।

नोट—३—मोहको मूल कहकर 'तामसी अभिमान' को वृक्ष और '*बहु सूल*' को उसके फल जनाये।

टिप्पणी—१ (क) अभिमान समस्त शोकोंका देनेवाला हैं, यथा—'*संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥*' (६। ७४) (ख) '*तम अभिमान*' का भाव कि अभिमान सतोगुणी भी होता है। जो ग्राह्य है, यथा—'*अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥*' (३। ११) तमोगुणी अभिमान त्याज्य है। (ग) '*राम रघुनायक*……' इति। '*राम*' अर्थात् इनमें सब योगी रमते हैं; यथा—'**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते।**' (रा० ता० पु०) अतएव तुम भी इनका भजन करो। इस कथनसे निर्गुण-उपासना पायी गयी। अत: कहते हैं कि रघुनायक (जो रघुकुलमें दशरथनन्दनरूपसे अवतरे हैं, उन सगुण) रामका भजन करो। वे कैसे हैं कि कृपाके समुद्र हैं, भगवान् हैं। अर्थात् कृपालु और सब लायक दोनों हैं, यथा—'*प्रभु अकृपालु कृपाल अलायक जहँ जहँ चितहिं डुलावौं*—(विनय०)। श्रीरामजी ऐसे नहीं हैं जैसे और सब हैं; ये तो कृपालु हैं और सब कुछ देनेकी योग्यता भी इनमें है। अथवा, जब कहा कि रामको भजो तब संदेह हुआ कि कौनसे राम? इसपर कहा कि रघुनायक जो कृपा करके सब ऐश्वर्य देते हैं। अथवा, राम हैं, सबके हृदयकी जानते हैं। रघुनायक हैं, अतएव बड़े दाता हैं। कृपासिन्धु हैं, कृपा करते हैं अर्थात् सब कुछ दे सकते हैं। भगवान् हैं, अर्थात् अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। ☞ रावणको ईश्वरत्वमें भ्रम है, इसीसे प्रसंगभरमें ईश्वरत्व-वर्णन किया गया है। —['*भजहु राम*……' कहा, क्योंकि बिना भगवद्भजनके जीवका कल्याण नहीं। यथा—'*तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ*……॥' (५। ४६)]

वि० त्रि—'*मोहमूल*……*भगवान*' इति। जिस मोहके वशमें पड़कर तुमने जगदम्बाका हरण किया है, उसे छोड़ो, और जिस अभिमानके कारण तुम्हें मोहका आवरण बना हुआ है, किसीकी शिक्षापर तुम ध्यान नहीं देते उसे छोड़ो। भावार्थ यह कि मेरे सिखावनपर ध्यान दो और जानकीको देकर रामजीको भजो। यदि कहिये कौन राम तो जिसे श्रुति कहती है—'**चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोः**

* यह दोहा दोहरामिश्रित है। (ब्र० चं०)

कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः॥' रघुकुलमें जो अवतीर्ण हैं, अवतारका कारण उनकी कृपा है, वे कृपासिंधु हैं, भगवान् हैं। **'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥'** प्राणियोंकी उत्पत्ति-प्रलयको जानते हैं, उनके आने-जानेको जानते हैं और बन्ध-मोक्षको जानते हैं। वे भगवान् आराध्य हैं।

टिप्पणी—२ (क) उपक्रममें अभिमान त्याग करनेको कहा और यहाँ उपसंहारमें भी; यथा—*'सुनहु मान तजि मोर सिखावन'* और *'त्यागहु तम अभिमान।'* (ख)—उपक्रम-उपसंहार दोनोंमें भजन करनेको कहा। यथा—*'भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी।'* (२२। ८) और *'भजहु राम रघुनायक'''''।'* (ग) उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें तीन-तीन विशेषण दिये; यथा—*प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि'* और *'राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान।'*

नोट—४ यहाँ उपक्रम *'बिनती करउँ'''''* 'और उपसंहार *'मोह'''''' भगवान'* के बीचमें श्रीहनुमान्‌जीने जीवोंके कल्याणार्थ नौ बातें कही हैं।—(१) जीवके उपदेशक आचार्यका स्वरूप (निरभिमान, सर्वशास्त्रवेत्ता, ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-सौशील्यादि-गुणोंसे युक्त होना)। *'बिनती करउँ जोरि कर रावन'* इसका उदाहरण है। (२) ऐश्वर्य (ईश्वरत्व अर्थात् सर्वकारण, सर्वनियन्ता और सर्वसृष्टिके आधारभूत परमेश्वरका प्रताप और प्रभाव)। यथा—*'जाके डर अतिकाल डेराई''''''।' 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥'* (२१। ४) से *'जितेहु चराचर झारि'* (२१) तक। (३) भगवान्‌का स्वाभाविक गुण (प्रणतपालकत्व, शरणागतवत्सलत्व) आदि। यथा—*'प्रनतपाल'''''गएँ सरन प्रभु राखिहैं''''''।'* (४)—शरणागत-फलप्राप्ति। यथा—*'रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥'* यह शरणागत होनेका तात्कालिक फल होगा। (५) परम्परागत धर्म (कुलधर्म)। यथा—*'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका॥'* (६) भगवत्सम्बन्ध बिना समस्त कृत्योंकी व्यर्थता। यथा—*'रामनाम बिनु गिरा न सोहा'* से *'जाइ रही पाई बिनु पाई।'* तक। (७)—भगवत्-शरणागति बिना अन्य सब साधनोंका अल्पफलदातृत्व। यथा—*'सरितमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥'* (८)—श्रीरामविमुख रामद्रोहीका त्रैलोक्यमें शरणाभाव। यथा—*'बिमुख राम त्राता नहिं कोपी।'* से *'राम कर द्रोही'* तक। (९) सिद्धान्त, यथा—*'भजहु राम रघुनायक'''''।'* (मा० त० सु०)

नोट—५ इस दोहेतक 'भयदर्शन' हुआ। *'कपि बंधन सुनि निसिचर धाए।'* (२०। ५) से यहाँतक *'रावनहि प्रबोधी'* प्रसंग है।

'बन उजारि रावनहि प्रबोधी'-प्रसंग समाप्त हुआ।

'पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी'-प्रकरण

('पुर दहि'-प्रसंग)

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥ १॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी॥ २॥*

अर्थ—यद्यपि श्रीहनुमान्‌जीने अत्यन्त भलेकी (हितकर), भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीतिसे भरी हुई (अर्थात् आदर करने योग्य) वाणी कही॥ १॥ तो भी वह महा-अभिमानी रावण बहुत हँसकर (ठट्ठा मारकर निरादरपूर्वक) बोला—'हमें बड़ा ज्ञानी वानर गुरु मिला'॥ २॥

नोट—१ *'जदपि कही कपि अति हित बानी।'''''* इति। श्रीहनुमान्‌जीके वचन अत्यन्त हितकर हैं। यथा—**'तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुयायि च।'** (वाल्मी० ५। ५१। २१) अर्थात् मेरा वचन तीनों कालोंमें हितकर, धर्मयुक्त और शास्त्रसम्मत है। वाल्मीकिजीने भी इन वचनोंको 'सुन्दर, अदैन्य और अनुपम' कहा है, यथा—**'स सौष्ठवोपेतमदीनवादिनः।'** (वाल्मी० ५। ५१। ४५)

* अर्धाली (१) से (५) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)

टिप्पणी—१ (क) *'अति हित बानी।'* हनुमान्‌जी संत हैं। संतका धर्म है पराया हित करना; यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* अतएव उन्होंने हितके वचन कहे। पुनः, (ख) हित तो एकहीसे हो सकता है पर यहाँ वाणी, भक्ति, विवेक, विरति और नय चारोंसे संयुक्त है; अतएव वाणी *'अति हित'* है। ☞ इन चारोंके धारण करनेसे जीवका अत्यन्त हित होता है—यह उपदेश है।

☞ इस प्रसंगमें छः आवृत्तियाँ हैं; उनको क्रमसे दिखाते हैं।

दो०—*'प्रश्नोत्तर अरु कांडक्रम करहु प्रसंग बिभाग। अपराधी तुम्ह असुर सब मोहि अपराध न लाग॥ १॥*
त्याग ग्रहण फल तीन को करहु बिभाग बिचारि। भक्ति बिबेक बिरति नय पृथक पृथक निर्धारि॥ २॥

(१)—प्रश्न	उत्तर
केहि के बल	(१) *'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया'* से *'जाके बल लवलेस तें जितेहु·····'* तक
कह लंकेस कवन तै कीसा	(२) *'तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।'*
कीधौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही	(३) *'जानौं मैं तुम्हारि प्रभुताई'* से *'समर बालि सन करि जसु पावा'* तक
केहि के बल घालेहि बन खीसा	(४) *'खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाउ तें तोरेउँ रूखा॥'*
मारे निसिचर केहि अपराधा	(५) *'सबके देह परम प्रिय स्वामी'* से *'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे'* तक

यहाँतक प्रश्नोत्तर हुए। आगे सिखावन है—*'बिनती करउँ जोरि कर रावन।'* इत्यादि। **इति प्रथमावृत्तिः।**

(२)—द्वितीयावृत्तिमें रूप, अवतार, हेतु और लीला कही—

(क) प्रथम भगवान्‌का निज रूप कहा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया'* से *'अंडकोस समेत गिरि कानन'* तक

(ख) फिर अवतार कहा— *'धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता।'*

(ग) अवतारका हेतु कहा— *'तुम्ह से सठन सिखावनदाता।'*

(घ) अवतारकी लीला कही। इसमें बाल, अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डोंके चरित कहे। *'हरकोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल मद गंजा॥'* यह बालकाण्ड हुआ। 'खरदूषण-त्रिसिरा' का वध अरण्यकाण्ड है। 'बालिवध' किष्किन्धाकाण्ड है। *'खाएउँ प्रभु फल लागी भूखा'* से *'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे'* तक सुन्दरकाण्ड है। इतनी लीला अभीतक हुई सो कही।

बीचमें अयोध्याकाण्ड क्यों छोड़ दिया? उत्तर—अयोध्याकाण्ड भरतचरित है, यथा—*'भरतचरित करि नेम·····।'* हनुमान्‌जी रामचरित कहकर उसको श्रीरामजीका बल दिखा रहे हैं, इसीसे अयोध्याकाण्ड न कहा। इसी प्रकार नाम-वन्दना-प्रकरणमें भी जहाँ रामसे रामनामको अधिक कहा है, वहाँ भी सब काण्ड कहे पर बीचका अयोध्याकाण्ड नहीं कहा; यथा—*'भंजेउ राम आपु भवचापू।'*—(बाल०) *'दंडकबन प्रभु कीन्ह सुहावन·····'* (अरण्य०), *'सबरी गीध सुसेवकनि'* (किष्किन्धा०), इत्यादि—बा० दोहा २३-२४ (८ देखिये)। इसी तरह मन्दोदरी आदिके वाक्योंमें अयोध्याकाण्डका चरित नहीं है, यथा—*'भंजि धनुष जानकी बिबाही।·····सुरपतिसुत जानइ बल थोरा॥'* (६। ३५), इत्यादि। पुनः, यथा—*'जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड॥'* (३। २५)

(३) तृतीयावृत्तिमें सबका अपराध और अपनी सफाई कही—

राजाका अपराध—*'तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।'*

राक्षसोंका अपराध—*'मारहिं मोहि कुमारगगामी।'*

मेघनादका अपराध—*'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे।'*

अपनी सफाई—*'खाएउँ प्रभु फल लागी भूखा।'* इत्यादि।

(४) चतुर्थावृत्तिमें तीन बार 'सुनु' पद देकर इस प्रसंगमें तीन भाग जनाये। यथा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया'*, *'सुनहु मान तजि मोर सिखावन'*, *'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी।'* प्रथम भागमें प्रश्नोत्तर दिया, दूसरे भागमें शिक्षा दी और तीसरे भागमें भय दिखाया। **इति चतुर्थावृत्तिः।**—यह 'प्रसंग-विभाग' है।

(५) पञ्चमावृत्तिमें त्याग, ग्रहण और फल तीनोंका विभाग है—(क) मान, भ्रम, वैर, मद, मोह,

तम और अभिमान—इन छःका त्याग कहते हैं; यथा-क्रमसे—'*सुनहु मान तजि*.....', '*भ्रम तजि भजहु*.....', '*तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजे*', देखु *बिचारि त्यागि मद मोहा*', '*मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।*' (ख) ग्रहण पाँच वस्तुओंका कहा। (१) भजन करो; (२) अपना भय दूर करो; (३) श्रीजानकीजीको देकर शरण हो; (४) रामचरण उरमें धरो; (५) भजन करके ईश्वरके कृपापात्र बनो। क्रमसे इनके उदाहरण, यथा—'*भजहु*', '*भगतभयहारी*', '*मोरे कहे जानकी दीजै*', '*गए सरन प्रभु राखिहैं*', '*राम चरनपंकज उर धरहू*', '*भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु।*' (ग) अब इन पाँचोंका फल कहते हैं। क्रमसे यथा—(१) अचलराज; यथा—'*लंका अचलराज तुम्ह करहू।*' (२) कुलकी शोभा, यथा—'*रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका॥*' (३) वाणीकी शोभा,यथा—'*रामनाम बिनु गिरा न सोहा।*' (४) संपत्तिकी स्थिरता, यथा—'*रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥*' (५) 'शरीरकी स्थिरता' यथा—'*संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही।*' इति पंचमावृत्तिः।

(६)—षष्ठावृत्तिमें भक्ति और विवेक आदिका विभाग करते हैं।—

भक्ति—'*देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी*' से '*रामचरन पंकज उर धरहू*' तक।

विवेक—'*रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका*' से '*बसन हीन नहिं सोह सुरारी*' तक।

विरति—'*राम बिमुख संपति प्रभुताई*' से '*बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं*' तक।

नीति—'*सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी*' से '*भजहु राम रघुनायक*.....*भगवान*' तक।

☞ नीतिशास्त्र कहता है कि जो अपनेसे बल-बुद्धिमें बड़ा हो उससे वैर न करे।—[श्रीहनुमान्‌जीके उत्तरमें सामादि चारों नीतियाँ दिखायी गयी हैं। '*बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥*' में साम, '*लंका अचल राज तुम्ह करहू*' में दाम, '*रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका॥*' में भेद और '*सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी*' से '*सकहिं न राखि राम कर द्रोही*' तक दण्ड है।]

नोट—२ मा० त० सु० का मत है कि यहाँ तीन आवृत्तियोंमें भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीति समझायी गयी है। '*बिनती करउँ*' से '*अपराध बिसारी*' तक प्रथम आवृत्ति, '*रामचरन पंकज*' से '*भूषित बर नारी*' तक द्वितीय और '*राम बिमुख संपति*' से '*कृपासिंधु भगवान*' तक तृतीयावृत्ति है। और प्रत्येक आवृत्तिमें भक्ति आदि चारों हैं। जैसे कि प्रथमावृत्तिमें '*प्रनतपाल*...*बिसारि*' भक्ति है, '*सुनहु मान तजि*...' विवेक है, '*भ्रम तजि भजहु*' वैराग्य और '*तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै।*' नीति है। द्वितीयमें '*रामचरन*.......' भक्ति, '*बसन हीन*.....' विवेक, '*त्यागि मद मोहा*' विरति और '*रिषि पुलस्ति*...*कलंका*' नीति है। इसी प्रकार तृतीयावृत्तिमें '*भजहु राम*.....' भक्ति, '*राम बिमुख त्राता नहिं कोपी*' विवेक, '*त्यागहु तम अभिमान*' विरति और '*राम बिमुख संपति पाई*' नीति है। ☞ इस प्रकार तीन-तीन बार प्रत्येक वस्तुको कथनकर उपदेश देते हैं कि यदि इतना कहनेपर भी मनुष्य अपने आचार्यवाक्यका निरादर करे तो रावणके समान क्लेश पाता है।

प० प० प्र०—(क) 'हनुमान्‌जीके उत्तरोंमें ग्रथित अन्य सिद्धान्त'—(१) ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवताओंकी शक्ति रामशक्तिका ही अंश है। अन्य बलवानोंका बल भी रामबलका अंशांश है।

(२) उद्भव, पालन, प्रलय और प्रलय, उद्भव, पालनका चक्र अनादिकालसे चला आ रहा है।

(३) क्षुधा शमन करनेवाले पशु-पक्षी आदिका विरोध करना पाप है, अपराध है।

(४) अभिमान विनाशका मूल है।

(५) स्वामिकार्यमें लोकलज्जा, अपमान, दण्ड आदिकी परवा न करनी चाहिये।

(६) आत्म-संरक्षणमें प्राणिवध या मनुष्य-हत्या पाप या अपराध नहीं है।

(७) निष्प्रभ हुए अभिमानी सत्ताधीश अपना अपमान हँसीमें उड़ाते हैं।

(ख) हितोपदेशकमें ये लक्षण होने चाहिये—विनय, दयाशीलता, परहितकी तीव्र इच्छा, निर्भयता, स्वार्थविमुखता, अनीति-विमुखता, नीति, विरति, ज्ञान-भक्ति-निपुणता इत्यादि।

टिप्पणी—२ '*बोला बिहँसि*.....' इति। (क) वाणीके निरादरार्थ हँसकर बोला क्योंकि महा-अभिमानी

है। अभिमानी उपदेश नहीं मानते, यथा—*'अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी॥'* (४। ८। १) (ख) *'महा अभिमानी'* का भाव कि हनुमान्‌जीने अभिमान त्याग करनेको कहा तो भी इसने उसे न छोड़ा। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि वह *'महा अभिमानी'* है, वह अभिमान नहीं त्याग सकता। [☞ अभिमानी, कामी, क्रोधी आदिको भगवत्तत्त्वका उपदेश करनेका निषेध किया गया है, यथा—*'कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।'* इत्यादि। तब हनुमान्‌जीने क्यों उपदेश किया? इससे कि वे महारुद्रावतार होनेसे उसके भी गुरु हैं। शंकरजी त्रिभुवनके गुरु हैं, यथा—*'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।'* (१। १११); गुरुका कर्तव्य है उपदेश करना, शिष्य माने या न माने । यथा—*'गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम। मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥'* (७। १०५), *'"""मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुर कर द्रोह करउँ दिन राती॥'* (भुशुण्डिवाक्य) इसी तरह मानी रावणको उपदेशपर क्रोध हुआ। (ग) *'मिला हमहि कपि गुर'* का भाव कि आजतक वानर गुरु किसीको न मिला था, हमको मिला। सरस्वती जनाये देती है कि हनुमान्‌जी शिवजीके अवतार हैं। पर अभिमानका मारा रावण न जान पाया।

नोट—३ *'कपि गुर'* कथनसे स्पष्ट है कि रावण समझ गया कि जो वचन हनुमान्‌जी कहे हैं, वे सद्‌गुरु-उपदेशके समान हैं। मोह, भ्रम, मान, अभिमान आदि कुरोगोंका नाश तभी होता है जब सद्‌गुरु मिलें और उनके उपदेशमें श्रद्धा और विस्वास हो और वे श्रीरघुपति-भक्तिरूपी औषध देवें। यथा—*'रामकृपा नासहिं सब रोगा।"'सदगुर बैद बचन बिस्वासा।""रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा""'।* (७। १२२)—यहाँ श्रीहनुमान्‌जी सद्‌गुरुरूपसे हितोपदेश कर रहे हैं, पर वह ग्रहण नहीं करता।

नोट—४—हास्यकालमें अभिमानजनित हँसी और व्यंग्य वचन कितने सुन्दर हैं। (लमगोड़ाजी)

प० प० प्र०—*'मिला हमहिं कपि गुर बड़ ग्यानी'* इति। रावणके अन्तरंगमें तो ये वचन यथार्थ हैं। रावणके मनमें जो संशय था कि ये राम भगवान् हैं या नहीं, वह इनके उपदेशसे नष्ट हो गया, *'सदगुरु मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।'* (४। १७); अतः पूर्व की हुई प्रतिज्ञापर, कि *'तौं मैं जाइ बैर हठि करऊँ।'* (३। २३। ४), वह अब परम दृढ़ हो गया। इसीसे आगे अब जो कोई *'जानकी दीजै'* कहता है, उससे रुष्ट होता है—इसमें अपवाद केवल मंदोदरी है।

सद्‌गुरुके उपदेशसे विरोधीभक्ति दृढ़ हो गयी। विरोधीभक्ति प्रथानुसार गुरुकी दक्षिणा भी देनी चाहिये। रामविरोधभक्तिकी सिद्धिके लिये *'गुरुविरोधभक्ति'* भी करना क्रमप्राप्त हो गया। आगे *'मृत्यु निकट आई खल तोही'* में का *'खल'* आवाहनकी पुष्पाञ्जलि है। *'मृत्यु निकट'* दक्षिणा है, पूँछ जलाना धूप-दीप है। नैवेद्य तो पहले ही भक्षण कर चुके हैं। *'उलटा होइहि'* यह देवताका आशीर्वाद है। गुरुपूजन मन्त्रोपदेशके पूर्व ही किया जाता है पर रावणकी पूजाविधि उलटी है।

वि त्रि०—रावण हनुमान्‌जीका उपदेश चुपचाप सुनता रहा। जब उन्होंने *'भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान'* कहकर समाप्त किया, तब हँसा कि स्वयं बन्दर होके उपदेष्टा बना है और मनुष्यके भजन करनेका उपदेश दे रहा है। रावणने सदा मनुष्य और बन्दरको हेय दृष्टिसे देखा। सो बन्दरका इतना बड़ा साहस कि मुझे उपदेश दे। **'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।'** रावणकी यह हँसी प्रसन्नताकी हँसी नहीं है, क्रोधकी हँसी है। वह महा-अभिमानी है, उपदेशके पथ्यापथ्यका विचार नहीं करता, यथा—*'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'* इसी भाँति हितोपदेश देनेवाले मारीचपर बिगड़ गया, यथा—*'गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥'*

मृत्यु निकट आई खल तोहीं। लागेसि अधम सिखावन मोहीं॥ ३॥
उलटा होइहि कह हनुमाना। मति भ्रम तोहि* प्रगट मैं जाना॥ ४॥

अर्थ—अरे दुष्ट! तेरी मृत्यु निकट आ गयी है। अरे अधम! तू (अधम होकर भी) मुझे सिखाने

* तोरि—ना० प्र०, ब्र० चं०। तोहि—छा०, का०, भा० दा०, १७२१, १७६२, १७०४। तोर—कोदवराम।

लगा है॥ ३॥ हनुमान्‌जीने कहा कि इसका उलटा होगा। (अर्थात् तेरी मृत्यु होगी, मेरी नहीं।) मैं प्रत्यक्ष जान गया कि तुझे बुद्धिमें भ्रम हो गया है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'मृत्यु निकट'* इति। (क)—भाव कि तूने हमें उपदेश दिया, हम तुझको गुरुदक्षिणामें *'मृत्यु'* देते हैं। यथा—*'कह कपि मुनि गुर दछिना लेहू। पाछे हमहिं मंत्र तुम देहू॥'* (६। ५७, कालनेमिप्रति श्रीहनुमत्-वचन) [श्रीहनुमान्‌जीने कालनेमिको गुरुदक्षिणामें *'सिर लंगूर लपेटि पछारा'* अर्थात् मृत्यु दी है। *'निकट'* का भाव मेरी मृत्यु तो बहुत दूर है, पर तुझे मैं अभी तुरंत मृत्युके हवाले करता हूँ। (ख) *'लागेसि अधम·····'* इति। छोटे मुँह बड़ी बात कहनेसे रावणने *'अधम'* सम्बोधन किया। यथा—*'रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी॥'* (६। ३०, अंगदप्रति रावणवाक्य) क्रोधमें परुष वचन निकलते ही हैं, यथा—*'क्रोधके परुष बचन बल।'* खिसियाया हुआ है क्योंकि उत्तर नहीं सूझता। अथवा, वानर-शरीरके विचारसे कहा। यथा—*'अधम सरीर राम जिन्ह पाये।'* अधम, यथा—*'अस मैं अधम सखा सुनु·····'*। (ग) *'सिखावन मोही'* का भाव कि मैंने वेदोंपर भाष्य किया, मुझ पण्डितको एक पशु शिक्षा दे! इसकी सजा वध है। अतः कहा कि तेरी मृत्यु निकट आ गयी। वा, मैं जगन्मात्रको शिक्षा देनेवाला हूँ, तू मुझे सिखाता है? शिक्षा देनेपर रावणको क्रोध होता है; यथा—*'गुर जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥'* (३। २६, रावणवचन मारीचप्रति), *'सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहि तोहि सिखाई॥·····'* (६। १०, प्रहस्तप्रति), *'रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी॥'* (६। २१, अङ्गदप्रति), *'बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही॥'* (६। ४८, माल्यवान्‌प्रति), *'सुनि दसकंठ रिसान अति तेहि मन कीन्ह बिचार। रामदूत कर मरौं बरु यह खल रत मल भार॥'* (६। ५५ रावण-कालनेमि-प्रसङ्ग) इत्यादि।

टिप्पणी—२—*'मति भ्रम तोहि·····'* इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीको बुद्धिमान् देखकर रावण इनकी किसी वाणीका उत्तर न दे सका। उसने समझ लिया कि उत्तर देते ही यह सभाभरमें हमको बेवकूफ (मूर्ख) बनायेगा; क्योंकि जितने प्रश्न हमने किये उनका उत्तर इसने तुरंत दिया; हमारी सब बातोंको काट डाला। रावणका यह कहना कि तूने हमको शिक्षा दी, अतः तू वधयोग्य है, गलत है; क्योंकि शिक्षा देना मृत्युका चिह्न नहीं है। 'मृत्युका यथार्थ चिह्न क्या है', इसे हनुमान्‌जी उत्तरमें कहते हैं कि-'तेरे बुद्धिमें भ्रम हो गया है, इससे तुझे उलटा समझ पड़ता है, मरेगा तो आप और कहता है मुझको।' (ख) *'प्रगट'* का भाव कि शास्त्रमें कहा है कि जिसकी बुद्धिमें भ्रम होता है, उसकी मृत्यु होती है। अब हमने तेरी बुद्धिमें भ्रम प्रकट देख लिया कि हितोपदेश भी तुझे अहित समझ पड़ा, इसीसे निश्चय हो गया कि तेरी मृत्यु होगी। यथा—*'तकइ नीच जो मीच साधुकी सो पामर तेहि मीचु मरै'*—(विनय०)* *'हित मत तोहि न लागत कैसें। काल बिबस कहुँ भेषज जैसें॥'* (६। १०, प्रहस्त-वचन) हितको अहित, अहितको हित समझना यह भ्रम है। भ्रम होनेपर उलटा ही सूझता है, यथा—*'जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥'* (७। ७३) भ्रम, और अभिमान दोनों मृत्युके चिह्न हैं, यथा—*'मंदोदरी हृदय अस जाना। कालबस्य उपजा अभिमाना॥'* (६। ८), *'मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ॥'* (६। १६), *'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥'* (६। ३६) इत्यादि। हनुमान्‌जीने इन दोनोंको त्याग करनेको कहा, पर वे दोनों उसमें अब भी प्रकट दिख रहे हैं, यथा—*'बोला महा अभिमानी'* और *'मति भ्रम तोहि'*। पूर्वापर दोनों जगह मृत्युका हेतु कहा।

सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥ ५॥
सुनत निसाचर मारन धाए। सचिवन्ह सहित बिभीषनु आए†॥ ६॥

अर्थ—कपिके वचन सुनकर (रावण) बहुत खिसियाया (लज्जित हुआ और लज्जाके कारण कुपित

* यथा—'मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विप्लवा गिरः।' यहाँ व्यङ्ग्यार्थ-वाच्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधान गुणीभूत' व्यंग है।

† 'सुनत·····' तामरस, 'सचिवन्ह·····' 'चण्डी'—(ब्र० चं०)

होकर राक्षसोंसे कहा कि) इस मूर्खके प्राण शीघ्र ही क्यों नहीं हरण कर लेते?॥ ५॥ सुनते ही निशाचर उन्हें मारने दौड़े। उसी समय विभीषणजी मंत्रियोंसहित आये॥ ६॥

नोट—'हास्यकलामें *'खिसिआना'* की झेंप और हँसीसे निर्हस (क्रोध) स्वाभाविक ही है।' वाल्मीकिजी लिखते भी हैं कि क्रोधके मारे रावणके नेत्र लाल हो गये। २—नाटकीय कलामें रंगमंचपर कितना सुन्दर दृश्य बन पड़ा? फिर मंत्रियोंके आनेका अवसर (Enter) तो नाटकी और महाकाव्य दोनों कलाओंकी जान ही है। ३—फिल्मकला भी निछावर है। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ (क) *'बहुत खिसिआना।'* भाव कि खिसियाया हुआ तो पूर्व ही था जब उत्तर न बन पड़ा था और अब अपने वचनका प्रत्युत्तर सुनकर *'बहुत खिसिआना।'* तात्पर्य कि उत्तर बन पड़ता तो खिसिआता नहीं, उत्तर देता अथवा, कठोर वचन सुनकर बहुत खिसियाया, यथा—*'परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥'* (५। ९) वहाँ भी तो सीताजीके वचनोंका उत्तर न बन पड़ा था। (ख) *'बेगि न हरहु'* का भाव कि यदि शीघ्रता न करोगे तो यह फिर कुछ कहेगा। (ग) *'मूढ़'* का भाव कि जो शास्त्रमर्यादाको जानता है, वह राजाका अपमान करनेवाले वचन राजासे नहीं कहता, यह शास्त्र कुछ नहीं जानता, कुछ पढ़ा नहीं है, मूढ़ है। (घ) शरीरसे *'अधम'* है, विद्याहीन होनेसे मूढ़ है और कटुवादी है, अतः वधयोग्य है, यथा—*'कटुबादी बालक बध जोगू।'* अतएव शीघ्र प्राण लेनेको कहा। अथवा, (ङ) पूर्वमें वह कह चुका है कि *'मृत्यु निकट आई खल तोही'*; अतएव प्राण हरनेको कहा।

टिप्पणी—२ (क)—शीघ्र प्राण हरनेको कहा, अतः *'धाए'*। पुनः, *'धाए'* से जनाया कि राक्षस हनुमान्‌जीके डरसे दूर बैठे थे, क्योंकि वे जानते हैं कि उसने *'परतिहुँ बार कटक संहारा'*, गिरतेमें भी लाखोंका नाश किया था; ऐसा न हो कि उचककर गिरे तो हमारा मरण हो जाय। राक्षस हनुमान्‌जीके पास नहीं पहुँच पाये थे कि विभीषणजी वहाँ पहुँच गये और उन सबोंको मना कर दिया, तब रावणके पास गये। उनका प्रथम ही राक्षसोंको निवारण करना सूचित होता है; क्योंकि यदि वे पहले रावणके पास जाते और प्रार्थना करते तो तबतक राक्षस हनुमान्‌जीके पास पहुँचकर मारने लगते।—(वाल्मीकीय और अध्यात्मके अनुसार) श्रीविभीषणजी सभामें पूर्वसे ही विराजमान थे। उन्होंने रावणके पार्श्व (बगल) में खड़े हुए राक्षसोंको मारनेके लिये तैयार देख उन राक्षसोंको रोककर रावणसे प्रार्थना की। यथा—'**पार्श्वे स्थितं मारय खण्डशः कपिं**……। **निवारयामास ततो विभीषणो महासुरं सायुधमुद्यतं वधे**……॥' (अध्यात्म० ५। ४। ३०) गोस्वामीजी मन्त्रियोंसहित विभीषणजीका ठीक उसी समय आगमन कहकर रावणसे बातचीत करना प्रारम्भकर जनाते हैं कि विभीषणजीने कितनी शीघ्रता की। इसीसे उन्होंने राक्षसोंको रोकना कहा। अथवा, प्रथमसे ही प्रार्थना की कि दूतको न मारिये, यह नीतिके विरुद्ध है—यह रावणके भाईके मुखसे सुनकर राक्षस स्वयं रुक गये, इससे न लिखा गया। (ख) *'सचिवन्ह सहित'* से जनाया कि प्रत्येक दिन मन्त्रियोंसहित आया करते थे। आगे भी लिखते हैं कि *'सचिव संग लै नभपथ गयेऊ'*। (ग) ठीक इसी समयके आगमनसे ज्ञात होता है कि विभीषणजी पता लगाये रहे थे। जब उन्होंने सुना कि हनुमान्‌जीको बाँधकर मेघनाद सभामें ले गया है, तब हनुमान्‌जीकी सहायताके लिये आये और युक्तिसे सहायता की। अथवा, परमेश्वरकी इच्छासे इस समय आना हुआ। रामकृपासे भक्तोंको दुर्योगमें भी सुयोग हो जाता है। जैसे, (१) *'लागि तृषा अतिसय अकुलाने'* तब स्वयंप्रभा मिली जिससे समुद्रतटपर जानेका योग लगा। यथा—*'नयन मूदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥'* (४। २५); (२) समुद्रके तटपर वानर सोच करने लगे तब सम्पाती मिल गया; यथा—*'जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो रामकाज मति आगर॥'* (४। २९); (३) हनुमान्‌जी मनमें तर्क करने लगे, उसी समय विभीषणजी मिले, जिससे सीताजीके समीप पहुँचनेका योग हुआ। यथा—*'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहौं जानकी माता॥'* (५। ८); (४) तरुपल्लवमें छिपकर हनुमान्‌जी विचार करने लगे तब रावण आया जिससे मुद्रिका देने और वार्ता करनेका योग लगा।

तथा यहाँ (५) राक्षस हनुमान्‌जीको मारने दौड़े, तब विभीषणजी आये, अब लंका जलानेका योग मिल गया।

नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिय दूता॥७॥
आन दंड कछु करिअ गोसाँई। सबहीं कहा मंत्र भल भाई॥८॥*

अर्थ—रावणको सिर नवाकर उन्होंने बहुत विनती की कि दूतको न मारिये; यह (कर्म) नीतिके विरुद्ध है॥७॥ हे स्वामी! कोई दूसरा (साधारण) दण्ड दीजिये। यह सुनकर सभीने कहा—'भाई! यह मन्त्र (सलाह, सम्मति) उत्तम है'॥८॥

टिप्पणी—१ *'नाइ सीस करि बिनय बहूता।'''* इति। (क) [अपनेसे बड़ेसे बोलनेमें अथवा अपने मनोरथकी सिद्धि एवं यों भी विशेष विनयके पूर्व मस्तक नवानेकी रीति है। यथा—*'चरन बंदि करि बिनय बिसाला', 'नाइ सीस पुनि कह कर जोरी', 'माथ नाइ पूछत अस भयऊ', 'तब सिरु नाइ भरत कर जोरे', 'करि प्रनाम बोले भरत जोरि'''''*।] (ख) बहुत विनय वाल्मीकि और अध्यात्ममें स्पष्ट है। बहुत विनतीका कारण यह है कि उस समय रावणको बहुत क्रोध था, सामान्य विनयसे वह कहना न मानता। इसीसे पहले बहुत विनय करके विभीषणजीने उसे प्रसन्न किया, तब नीतिका विरोध दिखाया।

नोट—१ वाल्मी० ५ सर्ग ५२ में विभीषणजीका पूरे सर्गमें विनय है। जिसका खुलासा यह है—क्षमा कीजिये, क्रोध छोड़िये, प्रसन्न हूजिये। मेरी बात सुनिये। दूतका वध करना धर्म-विरुद्ध, लोक-व्यवहारसे निन्दित और राजधर्ममें निपुण राजाओंके अयोग्य है। योग्य-अयोग्यका विचार करके आप दण्ड दें। इतना सुनकर उसने क्रोधसे उत्तर दिया कि पापीके वधमें पाप नहीं है। मैं अवश्य इसका वध करूँगा। विभीषणजीने फिर निश्चित सिद्धान्तके वचन कहे—'**प्रसीद लंकेश्वर राक्षसेन्द्र धर्मार्थतत्त्वं (युक्तं) वचनं शृणुष्व। दूता न वध्याः समयेषु राजन्सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति संतः॥**' (१३) सज्जन कहते हैं कि दूत सब कालोंमें और सर्वत्र अवध्य है। यह शत्रु बहुत बढ़ा हुआ है। इसने अप्रमेय-अप्रिय काम किया है तथापि '**न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः।**' (१४) उनके लिये और अनेक दण्ड हैं पर वधका दण्ड कहीं सुननेमें नहीं आया।''''''आपके समान शास्त्रज्ञानमें एवं लौकिक व्यवहारमें दूसरा नहीं है। सुर-असुर सबमें आप श्रेष्ठ हैं, बलवान् हैं, आपको क्रोध न करना चाहिये। दूसरे, इसके वधसे लाभ क्या? जिसने इसे भेजा है, उसे दण्ड दीजिये। '**साधुर्वा यदि वासाधुः परैरेष समर्पितः। ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति॥**' (२१) भला है या बुरा, यह दूसरेका भेजा हुआ और दूसरेकी बात कहनेवाला पराधीन है; अतः वधयोग्य नहीं है। तीसरे इसके वधसे हानि है; क्योंकि आपकी शत्रुसे युद्ध करनेकी प्रवृत्तिका नाश हो जायगा। कारण कि इसके वधपर दूसरेका साहस नहीं जो समुद्र पार करके इस पार आ सके और फिर इसके स्वामीको खबर देकर यहाँ आपसे युद्ध करनेको ला सके। आप गुणी, श्रेष्ठ शस्त्रधारी सेनाको भेजकर उन राजकुमारोंको कैद करा लें, पर दूतको न मारें। इस वानर-यूथपतिके मार डालनेसे सब लोग आपकी सर्वत्र निन्दा करेंगे। इसके वधसे मुझे तो आपके लिये न तो कोई यशकी और न कोई भलाईकी ही बात देख पड़ती है। प्रत्युत इससे संसारभरमें आपकी निन्दा फैल जायगी। आपके राक्षस योद्धा आपके हितैषी हैं। आप इस वानरका वध करके अपने शूरवीर योद्धाओंके युद्धोल्लासको भंग न करें। रावणने इनके वचनोंको अपने कामका जानकर मान लिया।—इसीको गोस्वामीजीने *'बिनय बहूता'* शब्दोंसे जना दिया है।

अध्यात्मरामायण ५। ४ श्लोक ३०—३३ में विभीषणजीका मारनेके लिये उद्यत हुए राक्षसोंको रोकना रावणको समझाना कि दूतको न मारना चाहिये, इसके मारनेसे फिर आपके वैरी 'राम' को कौन समाचार देकर लायेगा, इसे और कोई दण्ड दीजिये, इत्यादि वर्णित है।

मा० त० सु०—कार नीतिका प्रमाण यह देते हैं—'**उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा। सदैवावध्यभावेन**

* पायकुलक है—(ब्र० चं०)।

यथार्थस्य हि वाचकः॥' अर्थात् उसको मारनेके लिये हथियार उठाकर धमकानेसे भी दूत कुछ-का-कुछ नहीं कह सकता। उसे कभी नहीं मारना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ (ठीक-ठीक) कहनेवाला है।

टिप्पणी—२ विभीषणजीने आते ही विनय करना प्रारम्भ कर दिया। खड़े-ही-खड़े विनय की और विनय करके चले गये। इसीसे आनेपर उनका बैठना नहीं लिखा जैसे कि अन्य अवसरोंपर लिखते हैं; यथा—*'अवसर जानि बिभीषनु आवा। भ्राताचरन सीस तेहि नावा॥ पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन।'* यहाँ बैठना नहीं लिखा; क्योंकि यहाँ वे बैठे नहीं; न बैठनेका कारण यह है कि वे महात्माको दण्ड दिया जाना आँखोंसे न देख सके। प्राण लेते थे, उसको बन्द कराके विनती करके दूसरा कुछ दण्ड देनेको कहा; पर दूसरा भी दण्ड देखना न सह सके; अतः चल दिये।

टिप्पणी—३ *'आन दंड कछु करिअ गोसाँई'* इति (क) राजाकी आज्ञा भंग न करनी चाहिये, इसीसे अन्य दंड करनेको कहा। समझाया कि इसमें आपकी आज्ञा भी रहेगी और नीतिविरुद्ध भी न होगा। (ख) *'कछु'* अर्थात् साधारण। (ग) *'गोसाँई'* का भाव कि आप पृथ्वीके स्वामी अर्थात् राजा हैं। आपको बहुत प्रकारके दण्ड मालूम हैं, उनमेंसे कोई दूसरा दण्ड दीजिये।

टिप्पणी—४ शंका—विभीषणजीने स्वयं क्यों न बताया कि यह दण्ड करो। समाधान—(क) उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीके प्राण बचानेके लिये दूसरा दंड करनेको कहा। (प० प० प्र० का मत है कि ऐसा मानना कि उनके बचानेके लिये विभीषणजीने ऐसा कहा, क्योंकि मानसके विभीषण जानते हैं कि वे परम रामभक्त हैं, उनपर श्रीरामजीकी पूर्ण कृपा है, उनका बाल बाँका करनेको कोई समर्थ नहीं। वे इस समय केवल प्रभुकी प्रेरणासे आये।) दण्डका नाम लेनेसे ये भी उस दण्डमें शामिल हो जाते अतः नाम न लिया। अथवा, (ख) नाम लेनेसे लंकादहनपर सब निशाचर इन्हींकी अपकीर्ति करते, इन्हींको दोष देते कि इन्हींके सम्मतिसे यह हुआ, न वे पूँछ जलानेकी सम्मति देते न हमारे घर जलाये जाते। लंकादहन तो हरि-इच्छा भावी ही था पर दण्डका प्रकार न बताना श्रीरामकृपासे ही हुआ। प्रभुने उनको अपकीर्तिसे बचा दिया।

नोट—२ अध्यात्मरामायणके विभीषणजीने यह कहते हुए कि अन्य दण्ड निश्चय कीजिये, यह भी कहा है कि 'दंड ऐसा हो कि जिसका चिह्न लेकर वह वानर जाय और सुग्रीवसहित श्रीरामजीको ले आवे।'—**'अतो वधसमं किञ्चिदन्यच्चिन्तय वानरे। सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं दृष्ट्वायास्यति द्रुतम्॥ रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव।'** (अ० रा० ५। ४। ३२) वाल्मीकिजीके विभीषणजी इनसे महात्मा हैं, वे केवल इतना कहते हैं कि—'दूतके लिये ये दण्ड बतलाये गये हैं—उसको अङ्गभङ्ग कर देना, चाबुक लगवाना, सिर मुँड़वा देना, शरीरमें कोई चिह्न दगवा देना, इत्यादि। पर दूतका वध कहीं नहीं सुना है। आप कोई भी अन्य दण्ड दें।'—**'दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः॥ वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लक्षणसन्निपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान् वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽपि॥'** (५। ५२। १४-१५) पर मानसके विभीषणजी उपर्युक्त दोनोंसे श्रेष्ठ हैं।

लमगोड़ाजी भी इससे सहमत हैं। वे कहते हैं कि यदि कलाकी कल्पना ही समझी जाय तो भी वही ठीक जान पड़ता है जो 'प्रबंध' हमारे पूज्य कवि कर रहे हैं। क्या महाकाव्यकला और क्या नाटकीकलाके दृष्टिकोणसे *'बिनय बहूता'* चाहे जितनी की हो पर 'मित्र' के लिये दुःख देनेवाले दण्ड तो उन्होंने कभी न बताये होंगे, चाहे बात टालनेके लिये 'कुछ और दण्डकी बात कह दी हो। इसमें रावणके कौतुकपूर्ण और राजनीति-सम्बन्धी चतुराईके प्रकटीकरणका अवसर भी अधिक है। इस समय नायक और प्रतिनायक दो खेलाड़ी रावण और पवनसुत ही तो हैं। बहुत विस्तारसे मन्त्रणा देनेमें यह भी भय था कि कहीं क्रोध अभी उधर उलट न पड़े कि मुझे सिखाने आये हैं। इससे सूत्ररूपमें ही मन्त्रणा अति उत्तम है।

टिप्पणी—५ *'सबहीं कहा मंत्र भल भाई'* इति। सभीने कहा, क्योंकि यह मन्त्र नीतिविरुद्ध नहीं है, वरंच नीतिशास्त्रसम्मत है और वध नीतिविरुद्ध था। अथवा, सभी राक्षस कौतुक-देखनेके लिये सभामें आये थे; यथा—*'कपिबंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए॥'* (५। २०) रावणकी पूर्वाज्ञापर

वानरके मारे जानेका कौतुक देखनेको लालायित थे, राक्षसोंका मारने दौड़ना यह कौतुक देखा। अब इस मन्त्रसे अधिक कौतुक देखनेको मिलेगा (अबसे लेकर विभीषण-राज्यतकका कौतुक देखेंगे)। अतः सभीने इस मन्त्रको भला कहा। अथवा, जो मारने दौड़े थे, वह यह सोचकर सहमत हुए कि वानर हमें अवश्य मार डालता, पर विभीषणकी सलाहसे हमारी जान बच गयी। नहीं तो रावणकी आज्ञा पालन न करनेसे वे दण्डके भागी होते और कायर समझे जाते। इस मन्त्रमें युद्ध न करना पड़ेगा, अतः '*भल*' कहा। अथवा, पहले रावणके वचनका प्रतिपालन किया कि '*मारन धाए*', और अब विभीषणके वचनका प्रतिपालन करते हैं कि यह मन्त्र भला है; क्योंकि दोनों बड़े हैं। इस प्रकार दोनोंमें उनका सद्भाव सूचित हुआ।

सुनत बिहँसि बोला दसकंधर। अंगभंग करि पठइअ बंदर*॥ ९॥

अर्थ—दसकन्धर (रावण) सुनते ही हँसकर बोला कि बन्दरको अङ्गभङ्ग करके भेजो॥ ९॥

टिप्पणी—१ '*बिहँसि*' इति। विभीषणजीकी विनय सुनकर प्रसन्न हुआ। यहाँ हँसना प्रसन्नताका सूचक है। अथवा, वह पूँछ जलानेकी आज्ञा देना ही चाहता है, यह समझकर खूब हँसा कि इसमें बड़ा कौतुक होगा और इस अपमानके द्वारा इसका स्वामी भी देखनेमें आयेगा। अथवा, विभीषणके मन्त्रको सबने भला कहा, इसीसे उसने स्वयं भी उनको प्रसन्न करनेके लिये हँसकर जनाया कि तुमने बहुत अच्छा कहा। दूतके मारनेसे क्या लाभ? इसके स्वामीको मारना चाहिये, यही बात पूर्वमें भी रावणने स्वयं ही मेघनादसे कही थी; यथा—'*मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिअ कपिहि कहाँ कर आही॥*' (५। १९) अर्थात् इसके वधसे क्या लाभ? जिसने इसे भेजा है, उसे दण्ड देना चाहिये जिसमें फिर कोई ऐसा साहस न कर सके।—[वाल्मीकीय एवं अध्यात्मरा०में राक्षसोंका विभीषणजीके मतको समर्थन करनेका उल्लेख नहीं है, पर रावणने विभीषणजीके उत्तम वचनोंको अपने कामका जानकर उनका आदर किया और कहा है कि आपका कथन ठीक है, दूतका वध निन्द्य कर्म है, पर इसको अन्य दण्ड अवश्य ही दिया जायगा। —'**निशाचराणामधिपोऽनुजस्य विभीषणस्योत्तमवाक्यमिष्टम्।**' (५। ५२। २८) '**सम्यगुक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता।**' (५। ५३। २) '*बिहँसि*'से विभीषणजीके मन्त्रका आदर और स्वीकारत्व सूचित किया कि इन्होंने मुझे अनीति और अपकीर्तिसे बचा लिया। (२) '*बिहँसि*' में प्रसन्नताके साथ कौतुकका भाव भी है; मानो हास्य-कलामें उसे 'खिलाड़ी' हनुमान्‌पर विजयका दाँव मिल गया। इसीसे विस्तारसे समझाकर कहा है जो उपर्युक्त टिप्पणियोंमें आ गया है। (लमगोड़ाजी) (३) अथवा, मेरे सामने भी, इस वानरका निर्भय वचन सुनकर सब इसे मारनेमें डर रहे थे, किंतु विभीषणजीका वचन इन सबोंके अनुकूल होनेसे सबोंने उसे एकमुखसे स्वीकार किया—यह समझाकर हँसा।]

टिप्पणी—२ (क) '**दसकंधर**'=दस मस्तकोंवाला। '*अंगभंग करि पठइअ बंदर*' इति। सबको देह और प्राण परम प्रिय होते हैं; यथा—'*देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥*' (१। २०८, श्रीदशरथ-वाक्य विश्वामित्रप्रति।) उनमेंसे प्राणदण्ड तो नीतिविरुद्ध ठहरा। रहा शरीर सो यह भी सबको प्रिय है, यह स्वयं इस वानरने अभी-अभी कहा है, यथा—'*सबके देह परम प्रिय स्वामी।*' अतएव इसके शरीरका कोई अङ्ग भङ्ग कर दिया जाय। यह कहकर फिर स्वयं ही बताता है कि कौन अङ्ग भङ्ग किया जाय और किस तरह।

दो०—कपि के† ममता पूँछ पर सबहि कह्यौ‡ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ卐॥ २४॥

---

* 'सुनत……' ११४४ वाँ भेद है। अंग भंग……' १२१४ वाँ भेद है। (ब्र० चं०)

† के—१७२१, १७६२, १७०४, भा० दा०, के—ना० प्र०। कें—गी० प्रे०।

‡ कह्यौ—छ०, भा० दा०। कह्यो—१७२१, १७६२। कहेउ—ना० प्र०, गौड़जी। कहो—कोदवराम। कहौं—१७०४। कहउँ—गी० प्रे०।

卐 चल दोहा है—ब्र० चं०। (११ गुरु और २६ लघु इस प्रकार ४८ मात्राका चल दोहा होता है।)

अर्थ—उसने सबको समझाकर कहा कि 'कपिकी ममता पूँछपर होती है, अतः वस्त्रोंको तेलमें डुबाकर (पूँछमें लपेटकर) बाँध दो और फिर आग लगा दो'॥ २४॥

टिप्पणी—१ *'कपि के ममता पूँछ पर'* इति। [वानरोंका ममत्व अपनी पूँछपर होता है, अर्थात् पूँछ ही उनका अत्यन्त प्यारा भूषण है, अपनी लांगूलपर ही उनको बड़ा अभिमान रहता है, प्रसन्नतामें वे पूँछको उठाकर घुमाते-फिरते हैं, उसीसे वे बड़ी चोट करते हैं, इत्यादि। यथा—'**कपीनां किल लाङ्गूलमिष्टं भवति भूषणम्**॥' (वाल्मी० ५। ५३। ३, रावणवचन), '**वानराणां हि लाङ्गूले महामानो भवेत्किल**।' (अध्यात्म० ५। ४। ३४), *'अंगदु मयंदु नलु नील बलसील महा, बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं॥'* *'आयो हनुमानु प्रानहेतु अंकमाल देत, लेत पगधूरि एक चूमत लँगूल हैं।'* (क० सुं० २९, ३०) (लंकासे सीताजीका समाचार लेकर लौटनेपर वानरोंने अपनी प्रसन्नता इस प्रकार प्रकट की है।)]

टिप्पणी—२ *'सबहि कह्यौ समुझाइ'* इति। [पूर्व *'सुनत बिहँसि बोला'* कहा और यहाँ *'सबहि कह्यौ'* ऐसा कहकर जनाया कि पूर्वके वचन विभीषणजीके उत्तरमें कहे गये और दोहेके वचन सब राक्षसोंसे कहे गये। ऐसा ही वाल्मीकिजीका भी मत जान पड़ता है। वहाँ विभीषणजीसे रावणने यही कहा कि '**अवश्यं तु वधादान्यः क्रियतामस्य निग्रहः**॥' (वाल्मी० ५। ५३। २) वध न करके अन्य दण्ड अवश्य इसे दिया जायगा। और पूँछ जलानेकी आज्ञा राक्षसोंको दी।] सबको समझाना यह कि तुम सब मिलकर यह काम करो। [ऐसा न हो कि कुछ लोग काममें लगें, शेष तमाशा देखनेमें रहें, आग लगाते समय यह कोई उपद्रव न कर बैठे। सावधानतापूर्वक काम करो। तुम लोग कपड़ा बाँधनेमें डरो मत। यह इस समय बेबस है, नागपाशमें बँधा हुआ है, और मेरे समक्ष है, अतः यह कुछ कर नहीं सकता। (मा० त० सु०)] क्या समझाया, यह कवि स्वयं कहते हैं—

टिप्पणी—३ *'तेल बोरि पट बाँधि·····'* इति। (वाल्मीकीयमें यह समझाना नहीं है, केवल पूँछको आग लगाकर जला देना कहा है और अध्यात्ममें यत्नपूर्वक वस्त्र लपेटकर आग लगानेको कहा है। हनुमन्नाटकमें अवश्य 'तेलमें भिगोये हुए पुराने वस्त्र और बहुत सनसे लपेटी हुई पूँछ' ये शब्द मिलते हैं। यथा—'**लाङ्गूले चैलतैलप्लुतबहुलशणैर्वेष्टिते दीप्यमानो**·····।' (६। २४) कवितावलीमें भी मानस-कविने तेलमें डुबाकर बाँधना लिखा है, यथा—*'बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर, खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं।'* (सुं० ३) पर रावणका ऐसा राक्षसोंको समझाना यहाँ भी नहीं कहा गया है। मानसकी ही यह विशेषता है कि रावणने समझाया कि पहले कपड़ा बाँधकर तब तेल न डालना, क्योंकि ऐसा करनेसे बीचमें कपड़ा सूखा रह जायगा, प्रथम तेलमें डुबोकर तब बाँधो जिसमें सूखा न रहे। बन्दरका ममत्व पूँछमें है, आग लगा दो तो जल जाय। तब स्वामीके पास जाकर स्वामीको ले आयेगा।

वि० त्रि०—*'सुनत बिहँसि·····देहु लगाइ'* इति। विभीषणजीने जब कहा कि दूतको मारना नीतिविरुद्ध है, कोई दूसरा दण्ड दीजिये, सारी सभाने अनुमोदन किया; पर रावण साधारण खल नहीं है, वह हँसा कि आज तो सभी विभीषणकी बात मान गये। अच्छा, देखो सबको उल्लू बनाता हूँ। ये सब लोग वध दण्ड नहीं चाहते। मैं ऐसी बात कहूँगा, जिसमें सब लोग समझें कि हम लोगोंकी राय महाराजने मान ली, और हो यह कि बन्दर तड़प-तड़पकर मरे। अतः कहता है कि *'अंगभंग करि पठइअ बंदर।'* अब प्रश्न यह होता है कि कौन-सा अंग भंग किया जाय। इसपर कहता है कि 'बन्दरकी ममता पूँछपर रहती है। इसलिये इसे पूँछहीन कर दो।' अब उसकी विधि बतलाता है कि पहले कपड़ेको तेलसे तर करो, तब पूँछमें लपेटो, उसके बाद आग लगाओ। इस भाँति उसकी पूँछ जल जायगी, तब यह पूँछहीन होकर जायगा और अपने मालिकको ले आवेगा। मानो वह पूँछ जलकर राख होतेतक जीता रहेगा। सारी लंका जल गयी और हनुमान्‌जीकी पूँछ न जली यह बात दूसरी है। पर वह महादुष्ट तो अपनी समझमें बुरी मौत मार चुका था।

नोट—१ ☞ हमको उपदेश है कि जिसकी जिसमें ममता हो उसमें आग लगा देनेसे *'ममता*

मल जरि जाइ'। तब भगवान्‌के पास यह जीव पहुँच जाता है, स्वामी तो सर्वत्र और सबमें हैं ही। (मा० त० सु०)

पूँछ* हीन बानर तहँ† जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि॥ १॥
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई‡॥ २॥

अर्थ—जब पूँछरहित वानर वहाँ जायगा तब यह शठ अपने स्वामीको ले आयेगा॥१॥ जिनकी इसने बहुत बड़ाई की है, मैं जरा उनकी प्रभुता भी तो देखूँ॥ २॥

नोट—१ *'पूँछ हीन बानर'* कहनेका भाव कि अपनी अत्यन्त प्यारी वस्तु (पूँछ) के न रहनेसे यह बहुत दीन-दुःखी हो जायगा। यथा—**'ततः पश्यन्त्वमुं दीनमङ्गवैरूप्यकर्शितम्।'** (वाल्मी० ५। ५३। ४) पुनः भाव कि इस बातका प्रत्यक्ष चिह्न सभी इसके इष्ट-मित्र, भाई-बन्धु आदिको देख पड़ेगा कि इसे दण्ड दिया गया है। यह चिह्न दूरसे ही बिना बताये देख पड़ेगा।

नोट—२ बाबा हरीदासजीका मत है कि रावणने अग्नि लगाकर पूँछ जला डालनेको इसलिये कहा कि श्रीरामजीने श्रीसुग्रीवजीसे अग्निको साक्षी करके मित्रता की है, इस विचारसे कि दोनोंमेंसे जो भी दूसरेसे छल करेगा उसे अग्निदेव जला देंगे, क्योंकि वे दंड देनेमें समर्थ हैं। हनुमान्‌जी सुग्रीवके मन्त्री सुग्रीवरूप हैं। अग्निदेव जो इनकी पूँछ जला देंगे तो श्रीरामजी स्वाभाविक ही चौंक पड़ेंगे, समझ जायँगे कि सुग्रीवने वाली और अंगदसे छल किया और हमारे साथ भी यह छल करनेको है—यह विचारकर वे उसका साथ छोड़ देंगे। दोनोंमें भेद पड़ जायगा। अतः जलानेको कहा, नहीं तो जलानेको न कहकर अस्त्रसे काट डालना सुगम था (मेरी समझमें जलानेकी आज्ञा हरि-इच्छासे हुई। त्रिजटाका स्वप्न सत्य होना है कि—*'बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥'* वही बात श्रीहनुमान्‌जीके *'भइ सहाय सारद मैं जाना'* से सिद्ध होती है)।

नोट—३ पूँछहीको जलानेको कहा, नेत्र आदि अन्य अंगोंको विकृत क्यों न किया? कारण तो स्वयं उसने बताया है कि कपिका ममत्व पूँछपर होता है। जैसे मनुष्योंमें नाक और मूँछ वैसे ही वानरमें पूँछ। पुनः, रावणकी बहिनकी नाक और कान लक्ष्मणजीने काटे थे। हो सकता है कि इसीसे रावणको 'अंग-भंग' करनेकी सूझी हो।

टिप्पणी—१ (क) *'तहँ जाइहि'* इति। 'हि' निश्चयवाचक है। अर्थात् पूँछ न रहनेपर अपनी दीन-दशा दिखाने अवश्य जायगा, अन्य प्रकार न जाने जाता या न भी जाता, यहीं फल-फूलहीमें लुभाकर रह जाता। अब अवश्य जाकर जली पूँछ दिखावेगा और कहेगा कि रावणने यह मेरी दुर्गति की। (ख) *'तब सठ निज नाथहि……'* इति। (भारी अपराध करके भी अपराध नहीं स्वीकार करता—*'मारे निसिचर केहि अपराधा?'* के उत्तरमें कहता है कि *'जिन्ह मोहिं मारा ते मैं मारे।'* और बड़ा निडर है; अतः 'सठ' कहा। यथा—*'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा', 'देखउँ अति असंक सठ तोही।'* मेरा प्रताप देखकर भी क्षमाकी प्रार्थना नहीं करता, यथा—*'देखि प्रताप न कपि मन संका।'*) *'निज नाथ'* अर्थात् जिनके विषयमें कहा था कि *'मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥'* (२२। ६) (ग) *'लइ आइहि'* इति। भाव यह कि मेरा बल और प्रताप सुनकर इसका स्वामी कहीं लौट न जाता; यथा—*'की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजसु सुनि मोर'* (५। ५३, रावणवाक्य शुकप्रति)। किंतु इस वानरने मुझसे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा की है; यथा—*'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे।'* (५। २२) (५) देखिये। इस पुच्छहीनताका बदला यह स्वयं तो ले नहीं सकता, किंतु इसके स्वामीकी इच्छा न रहनेपर भी यह उसे किसी-न-किसी प्रकार अवश्य ले आवेगा। (मा० त० सु०)]

---

* पुच्छ-(ब्र० चं०)। † जब—कोदवराम। ‡ 'पुच्छहीन……' ११९३ वाँ भेद, 'तब सठ……' १०५५ वाँ भेद, और (२) (३) पायकुलक हैं—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—२ (क) *'जिन्ह कैं……'* पहले कहा कि 'निज नाथ' को ले आयेगा, पर 'निज नाथ' सुग्रीव भी हैं। अतः उनसे पृथक् श्रीरामजीको सूचित करनेके लिये वह पुनः कहता है कि *'जिन्ह कैं……'* अर्थात् जिनकी प्रथम इसने बड़ाई की है उनको लावेगा। रावण रामका नाम कभी नहीं लेता। यथा—*'जिन्ह के बल कर गर्ब तोहि ऐसे मनुज अनेक।'* अतएव यहाँ भी नाम न लिया [नोट—गोस्वामीजी 'निज नाथ' से उपर्युक्त *'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा'* वाले *'निज प्रभु'* की ओर संकेत तो कर ही रहे हैं, पर इतना ही नहीं है। इससे वे अन्य रामायणोंका भी मान रख देते हैं। अध्यात्मरामायणमें इस चौपाईकी जोड़का श्लोक यह है—**'सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं द्रष्टुमायास्यति द्रुतम्।' 'रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव।'** (५। ४। ३२-३३) ये विभीषणके वाक्य हैं। वे कहते हैं कि कोई दण्ड ऐसा दीजिये जिसका चिह्न लेकर यह जाय जिसे देखकर सुग्रीवसहित राम तुरंत आवें, फिर उनसे आपका युद्ध हो। सम्भव है कि *'सुग्रीव सहित राम'* के संकेतके लिये 'निज नाथ' पद दिया हो। अथवा, प्रथम 'निज नाथ' से सुग्रीवको कहा, फिर *'जिन्ह कैं……'* से श्रीरामजीको भी कहा।] (ख) *'बहुत बड़ाई'* यह कि *'जाके बल बिरंचि हरि ईसा।……'* इत्यादि। इस कथनका भाव यह है कि यह सब कोरी बड़ाई है, ऐसा हो नहीं सकता कि सारा ब्रह्माण्ड उनका बनाया हो। आगे शुक-सारन भी यही बात कहेंगे; यथा—*'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सहस सेष सत सकहिं न गाई॥'* इस वचनको भी झूठा कहेगा, यथा—*'मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥'* पर यहाँ यही कहता है कि बहुत बड़ाई की यह नहीं कहता कि झूठी बड़ाई की; क्योंकि हनुमान्‌जीका वचन ऐसा पुष्ट है कि उसे झूठा कहनेका साहस नहीं पड़ता। यथा—*'हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल मद गंजा॥ खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥'* इस वचनको कैसे कहे कि झूठ है?

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना॥ ३॥

अर्थ—(रावणके) वचन सुनते ही हनुमान्‌जी मनमें मुस्कुराये कि मैं समझ गया कि सरस्वतीजी सहाय हुईं। (भाव यह कि शारदाकी सहायता वाणीद्वारा ही होती है। सरस्वतीके दोनों रूप हैं—वाणी और देव। यहाँ वाणीरूप मन्त्ररूपसे सरस्वतीकी सहायता हुई। जो हमारा अभीष्ट था, वही उन्होंने रावणसे कहला दिया। पूँछहीन तलवारसे भी हो सकते थे पर तलवारसे काटनेको न कहकर *'तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ'* कहला दिया।)॥ ३॥

नोट-१ हास्यकलामें *'सुनत'* की अपूर्ण क्रियासे बुद्धिकी तीव्रता और मनमें मुस्करानेकी चातुरी सराहनीय है। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ *'बचन सुनत……मुसुकाना'* इति। रावणकी मूर्खतापर हँसे, यह अगली चौपाईसे स्पष्ट हो जाता है; यथा—*'जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचै मूढ़ सोइ रचना॥'* जब उसके वचन माननेवाले 'मूढ़' कहे गये तब रावणकी मूढ़ता तो आप ही सिद्ध हो गयी। अथवा, अपने अनुकूल कार्य समझकर 'मुसुकाने'। अथवा, शारदाकी सहायता समझकर मुस्कुराये। [वा, देवताओंकी चतुरतापर हँसे कि वे सदा ही इसीके द्वारा रावणको हानि पहुँचाया करते हैं। कुम्भकर्णसे क्या-का-क्या कहला दिया। (मा० त० सु०)] अथवा, इससे कि रावण कहता है कि *'देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई'।* आपने सोचा कि पहले तो इसने मुझे ही देखनेको कहा था, यथा—*'देखिअ कपिहि कहाँ कर आही।'* (१९। २), सो पहले मेरी 'प्रभुताई' तो देख ले, तब पीछे हमारे प्रभुकी प्रभुता देखना। जिस अग्निसे तू मेरी पूँछ जलानेकी सोच रहा है उससे मैं पहले तेरे नगरको जलाऊँगा और मेरी पूँछ तो जलेगी नहीं।—यह सोचकर हँसे।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जी मुस्कुराये कि अपनी समझमें तो यह मुझे वध-दण्ड दे रहा है, पर यह नहीं समझ रहा है कि इस भाँति वह मुझे 'आग लगानेके' दोषसे मुक्त कर रहा है। आग लगानेवाला आततायी है। पर बन्दरकी पूँछमें आग लगनेसे उसका चारों ओर भागना तथा जहाँ-तहाँ पूँछ पटकना स्वभावसिद्ध है। इस भाँति लंका-दाह भी हो जायगा और मुझे पाप भी स्पर्श नहीं करेगा।

नोट—२ वाल्मी० सु० ५। ५३ में लिखा है कि रावणकी आज्ञा पाकर जब राक्षस कपड़ा लपेटने लगे तब हनुमान्जी बहुत ही उत्साहित हुए और विचार करने लगे कि इनकी जो हानि मैंने की है उसका बदला ये लोग मुझसे न ले सके। मैं रातमें लंका अच्छी तरह देख भी न सका था, अब नगरमें मैं बँधा हुआ घुमाया जाऊँगा, इस प्रकार मुझे सब गुप्त-प्रकट स्थान देखनेमें आ जायँगे।

नोट—३—बाबा हरिदासजीने आठ भाव लिखे हैं, जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) इस कार्यसे रावणको विस्मय होगा कि मणिजटित सोनेकी लंका जल रही है और वानर न जला, अवश्य मेरा समय फिर गया। (ख)—सिद्ध, मुनि, देवताओंको आनन्द होगा। दो भाव टिप्पणीमें आ गये हैं।

टिप्पणी—२ *'भइ सहाय सारद·····'* इति। इससे जाना जाता है कि इनको पूर्वसे ही लंकादहनकी इच्छा थी। इच्छा वा प्रतिज्ञा इन्होंने कब की? उत्तर—जब इन्होंने श्रीजानकीजीको अपना शरीर जलानेके लिये सबसे अग्निकी याचना करते देखा था तब *'सो छन कपिहि कलप सम बीता'* था। उस समय क्षणके कल्पसमान बीतनेका कारण यही था कि वे इसी सोचमें निमग्न हो गये कि कब मैं इस विरहाग्निका बदला रावणसे लूँगा? इसीसे शोकमें क्षणभर भी महान्-सा हो गया था। बदला लेनेकी इच्छा उस समय हुई थी और अब बदला लेने योग्य अवसर सरस्वतीजीकी प्रेरणासे मिला। *'मैं जाना'* अर्थात् इसे मैं ही जानता हूँ, दूसरा नहीं। [जो दूसरेका अनभल ताकता है उसीका अनभल होता है—यह सिद्धान्त मैं ही जानता हूँ, ये लोग नहीं। यथा—*'तकै नीचु जो मीचु साधु की सो पामर तेहि मीचु मरै।'* (विनय०)—(मा० त० सु०)] इसीसे हनुमान्जी मनमें हँसे, जिसमें राक्षस इनके हर्षको न लख सकें। यह बात इन्होंने अपने मनमें निश्चित की। यदि राक्षस जानते कि इसमें हमारी हानि है तो यह काम कदापि न करते।

प० प० प्र०—यह देख रहा है कि ब्रह्मास्त्रसे भी मरा नहीं और नागपाशमें बँधनेपर भी निःशंक है तब भी ऐसी आज्ञा रावणने दी। अतः निश्चय हुआ कि यह मति उसकी नहीं है। उरप्रेरक रघुवंशविभूषणने सरस्वतीद्वारा ऐसा कहला दिया।

जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचै मूढ़ सोइ रचना॥ ४॥
रहा न नगर बसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ* कीन्ह कपि खेला†॥ ५॥

अर्थ—रावणका वचन सुनकर मूर्ख राक्षस वही रचना रचने लगे॥ ४॥ नगरमें वस्त्र, घी और तेल न रह गया; कपिने ऐसा खेल किया कि पूँछ बढ़ गयी॥ ५॥

नोट—१ अक्षरोंका क्रम शब्दगुणके विचारसे सराहनीय है। पहले 'च' की चाशनी (पाग) से रचना की, कौतुकी सरसता है। पर आगे घ, ढी, छ में कुछ भयानकता आती जाती है, पर इतनी नहीं कि खेलाड़ी हनुमान्के खेलमें विघ्न पड़े। यहाँ तो कविने भी 'खेल' लिख ही दिया। (लमगोड़ाजी)

नोट—२ *'जातुधान सुनि·····'* इति। 'यातुधान' शब्द यहाँपर साभिप्राय है। 'यातुधान' शब्द यत् धातुसे बना है, जिसका अर्थ है—यातना वा पीड़ा पहुँचाना। 'यातुधान' का अर्थ हुआ पीड़ाओंका खजाना अथवा जो यातनाएँ पहुँचावे। यहाँ रावणकी आज्ञा पालन करनेवाले श्रीहनुमान्जीको यातना पहुँचानेका यत्न कर रहे हैं; इसीसे 'जातुधान' कहे गये। (गौड़जी)

नोट—३ *'लागे रचै'* और *'रचना'* शब्दोंसे प्रकट करते हैं कि अत्यन्त स्नेह और उत्साहपूर्वक वे रावणके वचनकी पूर्णतामें तत्पर हो गये। उत्साह इससे है कि आज वे अपनी समझमें वानरद्वारा मारे गये हुए अपने सम्बन्धियोंका बदला चुका लेंगे। उनको इनपर बड़ा क्रोध है, इसीसे तन-मन-धनसे 'रचना' में लगे हैं। 'रचना' का प्रयोग प्रायः उत्साहके समय होता है। जनकपुरमें मण्डप-रचनामें इस शब्दकी भरमार देखने योग्य है।

टिप्पणी—१ *'मूढ़'* क्योंकि अपने हाथों अपने घर जलानेका उपाय करने लगे, यह विचार किसीने

* पूँछि—ना० प्र०। पुच्छ—ब्र० चं०। † 'जातुधान·····' चन्द्रवर्तम, 'लागे' से 'तारी' तक पादाकुलक—ब्र० चं०।

न किया कि बहुत अग्नि पाकर यह नगर जला देगा। रावणका नाम यहाँ सत्य हुआ। जो सबको रुलावे वह रावण। सबके घर जलेंगे, सब रोवेंगे।

टिप्पणी—२ *'रहा न नगर बसन घृत तेला'* इति। भाव यह कि राक्षसोंको ऐसा उत्साह हुआ कि वे अपने-अपने घरोंसे सब वस्त्र, घृत और तेल उठा लाये, क्योंकि कौतुक देखना है। वा, सबके घरके राक्षस मारे गये हैं, अतः जब सबने सुना कि वानरकी पूँछ आग लगाकर जलायी जायगी तब सबने कहा कि जितना वस्त्र, घी, तेल हो सब ले जाओ, घरमें न रहे तो न सही। रावणने घी लगानेका हुक्म नहीं दिया, वह यह न समझता था कि तेलसे पूरा न पड़ेगा। जब तेल न पूरा पड़ा तब सब लोग अपने-अपने घरोंसे घी लाने लगे पर इसकी भी इति-श्री हो गयी। जब घर-घरमें कहीं वस्त्र, तेल और घी न रह गया तब सबने हारकर छोड़ दिया। (स्मरण रहे कि नगरके राक्षसोंका उत्साह है। रावण तो आज्ञा देकर अलग हो गया। हमारी समझमें राजमहल इस रचनामें शामिल नहीं है।)

टिप्पणी—३ (क) नगरभरसे 'वसन, घृत, तेल' आया; इसीसे नगर भर जलेगा। विभीषणजीके घरसे न आया; इसीसे वह न जला।—*'जारा नगर निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥'* (ख) *'कीन्ह कपि खेला'* का भाव कि एकदमसे पूँछ नहीं बढ़ा ली, नहीं तो सब जान जाते, सचेत हो जाते (आग न लगाते) इसीसे धीरे-धीरे बढ़ाते गये। [यथा—'**संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः। शुष्कमिन्धनमासाद्य वनेष्विव हुताशनः॥**' (वाल्मी० ५। ५३। ७) अर्थात् ज्यों-ज्यों हनुमान्‌जीकी पूँछमें वस्त्रादि लपेटे जाते थे, त्यों-त्यों हनुमान्‌जी वैसे ही बढ़ते जाते थे, जैसे सूखे ईंधनको पाकर वनमें अग्नि बढ़ती है।]

नोट—४ यहाँ लोग शंका करते हैं कि 'यह कैसे सम्भव है कि लंकामें वस्त्र, घी और तेल न रह गया?' इसका समाधान मानसकवि स्वयं ही कर देते हैं कि *'कीन्ह कपि खेला।'* जब श्रीहनुमान्‌जीको कौतुक करना ही मंजूर (इच्छित) है और निशाचर *'कौतुक लागि सभा सब आए'* ही हैं तब घी-तेलके न रह जानेमें आश्चर्य क्या? यह महिमा हनुमान्‌जीके खेलकी वाल्मीकीय, आनन्द आदि रामायणोंमें भी ठीक ऐसी ही लिखी है, सबमें वस्त्रादिके लिये चिल्लपों मच गयी। इसके समाधानके लिये कुछ लोग यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं। और कुछ इसका अर्थ अवरेबसे करते हैं कि कपिने वस्त्र घी, तेलसे खेल किया कि नगर ही न रह गया। पर ये भाव रामायणोंके अनुसार नहीं हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'यहाँ लक्ष्मीजीने सहायता की कि उस नगरका वस्त्र, घी और तेल उस समय समाप्त हो गया। रावणको रामविमुख जानकर यह सहायता की। प्रमाण यथा—*'रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥'* इस तरह हनुमान्‌जीकी पूँछ बढ़ानेमें विजय हुई।'

लमगोड़ाजी कहते हैं कि 'तुलसीदासजीकी अतिशयोक्तियोंका चमत्कार ही यह है कि तनिक सावधानीसे अर्थ किया जाय तो स्वाभाविकता भी नहीं जाती और 'मुबालिगा' (अतिशयोक्ति) का मजा बना ही रहता है। सोचिये तो कि यदि किसी नगरमें बड़ी रोशनी हो और कोई कहे कि रूई और तेल नगरमें न बचा तो अर्थ यही होगा कि जो रूई और तेल ऐसे कामके योग्य थी वह सब लग गयी; तब यहाँ बहुत शाब्दिक अर्थ क्यों लिया जाय कि पहननेवाला कपड़ा भी न रहा; आखिर जो लोग हनुमान्‌जीको चारों ओर घेरे खड़े थे वे कपड़ा पहने ही थे, क्या नंगे थोड़े ही हो गये थे।'

☞ वाल्मीकिजीने तो स्पष्ट लिख दिया है कि—**वेष्टन्ते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः।**' (५। ५३। ६) अर्थात् पुराने सूती कपड़े लपेटने लगे। रेशमी और ऊनी भी नहीं, नये या पहनने योग्य भी नहीं, केवल 'पुराने' और 'सूती'—वही यहाँ समझना चाहिये और यही स्वाभाविक और यथार्थ है।

नोट—५ *'बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला'* से यह जनाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी बड़े उत्साहपूर्वक सीधे-सादे भोले-भाले बने हुए तेलमें भिगोये हुए वस्त्र बँधवा रहे थे, जिसमें लंका जलानेके लिये प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि मिल सके। गीतावलीके *'कानन दलि, होरी रचि बनाइ। हठि तेल-बसन बालधि बँधाइ॥'* (५। १६)—इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

कौतुक कहँ आए पुरबासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥ ६॥
बाजहि ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ* प्रजारी॥ ७॥

अर्थ—कौतुकके लिये पुरवासी आये। वे हनुमान्‌जीको लात मारते हैं और (उनकी) बहुत हँसी करते हैं॥ ६॥ ढोल बज रहे हैं। सब तालियाँ देते हैं। नगरमें इनको फिराकर तब (उन्होंने) पूँछमें आग लगा दी॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) लात मारना, हँसी उड़ाना, गाली देना इत्यादि सब कौतुक है, जिसके लिये पुरवासी आये। (ख) प्रथम कौतुकके लिये राक्षस (जो डरसे छिपे थे) आये, यथा—'*कपि बंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए॥*' जब घर-घरसे तेल, वस्त्र आदिकी उगाही हुई तब यह सुनकर कि वानरकी पूँछ जलायी जायगी, बड़ा कौतुक होगा, छोटे-बड़े सभी पुरवासी आये।

टिप्पणी—२—'इस कौतुकके वर्णनकी यहाँ क्या आवश्यकता थी?' यह प्रश्न यहाँ हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि हनुमान्‌जी नगरको जलानेवाले हैं, लोग पीछे यह दोष न लगावें कि 'क्यों' नगर जला डाला' इस विचारसे पुरवासियोंका अपराध प्रथम ही वर्णन कर दिया। सब पुरवासियोंने प्रथम अपराध किया, इसका बदला हनुमान्‌जीने पीछे नगर जलाकर चुकाया, सबको उनकी करनीका फल दिया। स्मरण रहे कि वस्त्र और तेल लाकर पूँछको जलाना, यह अपराध पुरवासियोंका नहीं है; इसके लिये तो रावणकी आज्ञा है और लात मारना इत्यादि पुरवासियोंके किये हुए अपराध हैं। यह रावणका हुक्म नहीं था।

टिप्पणी—३—'*करहिं बहु हाँसी*' का तात्पर्य यह कि जब लात मारते हैं तब हनुमान्‌जी ऐसा बनते हैं, मानो डरते हैं, तब सब राक्षस हँसते हैं। यथा—'*तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीले गात कै-कै, लातके अघात सहै, जीमें कहै, कूर हैं॥*' (क० ५। ३)

लमगोड़ाजी—१ इस हास्यकलापर कि हजरत (श्रीमान्‌जी) लातोंकी मार भी सहते जा रहे हैं। मुँहसे निकल ही जाता है कि वाह रे खिलाड़ी पवनसुत!!', दबे तो इतना और बढ़े तो लंका-दाह '*बिकट रूप धरि लंक जरावा*'। २—फिलमकला तो निछावर है ही। ३—'*बहु हाँसी*' पर कला निछावर है। विरोधको कैसे उभारा है? क्षण ही भरमें सब रोवेंगे।

नोट—१ '*मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी*'—फिर भी श्रीहनुमान्‌जी चुपचाप सब सह रहे हैं और नगरमें घुमाये जाते समय अपमान सहते हुए सुखपूर्वक चले जा रहे हैं, इसका कारण है……'*कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा*।' (२२। ६) (विशेष भाव २२। ६ में देखिये)। इससे उनका गूढ़ स्वभाव दरसाया कि इन सब राक्षसोंसे अकेले लड़नेको पर्याप्त होते हुए भी आगेका कार्य विचारकर चुप हैं।

टिप्पणी—४ (क) '*पुनि पूँछ प्रजारी*' इति। '*प्रजारी*' पदसे जनाया कि बहुत जगह आग लगायी जिसमें हाथसे न तो वानर उसे छुड़ा सके और न बुझा ही सके, यथा—'*बालधी बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्हीं आगी, बिधिकी दवारि कैधौं कोटिसत सूर हैं*।' (क० ५। ३), '*लाइ-लाइ आगि भागे बाल जाल जहाँ तहाँ*।' (क० ५। ४) (ख) जहाँ वानरका तमाशा होता है वहाँ बाजा बजता है, इसीसे ढोल बजाते हैं। जहाँ हँसी होती है, वहाँ लोग ताली देते हैं; इसीसे ये सब ताली देते हैं। (ग) '*नगर फेरि*'। नगर भरमें बाँधकर घुमाना यह भी एक दण्ड है; यथा—'*सुनि सुग्रीव बचन कपि धाए। बाँधि कटक चहुँ पास फिराए॥ बहु प्रकार मारन कपि लागे*।' अथवा नगरमें फिराया कि सब जान लें कि राजाका अपराधी ऐसी सजा (दण्ड) को प्राप्त होता है। अथवा, इससे फिराया कि जिस-जिस घरके राक्षसोंको इसने मारा है, उनकी स्त्रियाँ भी इसकी दुर्दशा देख प्रसन्न हो जायँ। (मा० त० सु०)

नोट—२ रावणने स्वयं ही यह आज्ञा दे रखी थी कि इसकी पूँछमें आग लगाकर इसको सारे नगरमें घुमाओ। यथा—'आज्ञापयद्राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम्। लांगूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम्॥' (वाल्मी० ५। ५३। ५) मानसकल्पमें नगरमें घुमानेके पश्चात् पूँछमें आग लगायी गयी। नगरमें घुमाते समय ढोल

---

* पूँछि=ना० प्र०। पुच्छ=ब्र० चं०।

आदि बजा-बजाकर इनका अपराध (कि अशोकवनको इसने उजाड़ा, रक्षकोंको मारा, अक्षकुमार, मंत्रिपुत्रों आदिको मारा, तुम्हारे भाई-बन्धु, पुत्र-पिता आदिको मारा है, इत्यादि) सबको सुनाते थे। और अध्यात्मरामायणमें तो 'यह चोर है' ऐसा कहते हुए घुमाना लिखा है। यथा—**समन्ताद् भ्रामयामासुश्चोरोऽयमिति वादिनः। तूर्यघोषैर्घोषयन्तस्ताडयन्तो मुहुर्मुहुः॥**' (५। ४। ३८) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीको जासूस (भेदिया) बतला-बतलाकर वे राक्षस घोषणा करते जाते थे।' **घोषयन्ति कपिं सर्वे चार इत्येव राक्षसाः।**' (५। ५३। २२) लमगोड़ाजी कहते हैं कि मुझे तो तुलसीदासजीका प्रबन्ध ही उचित जान पड़ता है कि कौतुकके लिये ही नगरमें फिराया, ढोल बजाये और तालियाँ दीं।

पावक जरत देखि हनुमंता। भयउ परम लघु रूप तुरंता॥८॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं सभीत निसाचर नारी॥९॥*

अर्थ—अग्नि जलती हुई देखकर श्रीहनुमान्‌जी तुरंत परम लघु रूप हो गये। (अर्थात् पूँछ छोड़ और सब अङ्गोंको छोटा कर लिया कि जो बँधे हुए थे; क्योंकि पूँछ छोटी करते तो कपड़ा जो बाँधकर जलाया गया वह भी निकल जाता। बँधे हुए अङ्गोंको छोटा करके बन्धनसे निकल आये॥८॥ कपि हनुमान्‌जी बन्धनसे निकलकर सोनेकी अटारीपर चढ़ गये। (यह देखकर) निशाचरोंकी स्त्रियाँ भयभीत हो गयीं॥९॥

टिप्पणी—१ (क) *'जरत देखि'* का भाव कि अब देख लिया कि अग्नि अच्छी तरह प्रज्वलित हो गयी, दौड़ने-कूदने-फाँदनेसे बुझेगी नहीं। (ख)—*'तुरंता'* क्योंकि किंचित् भी विलम्ब होता तो राक्षस पकड़ लेते, कार्यमें विघ्न होता। ['ये लोग मुझे नगरमें घुमावें और आग लगावें तो मेरा बड़ा काम होगा' यह पूर्वका सोचा हुआ मनोरथ सिद्ध हो गया, इसीसे वे उत्साहसे भरकर 'तुरंत' लघुरूप हो गये।—'""**कपिः कृतमनोरथः। वर्धमानसमुत्साहः**"""।' (वाल्मी० ५। ५४। १)।' *'तुरंता'* से यह भाव भी जना दिया।]

टिप्पणी—२ (क) *'निबुकि चढ़ेउ'* कहकर *'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा।'* इस वाक्यको यहाँ चरितार्थ किया। अपनेसे ही बँधाया और अपनेसे ही बन्धनसे निर्मुक्त हो गये।—[बन्धन तोड़नेसे देवताका तथा नागपाशका अपमान होता, मर्यादा भंग होती, अतएव उसे तोड़ा नहीं; स्वयं छोटे हो गये, जिससे बन्धन ढीले पड़ गये और वह आप ही छूट गया। पं० रामकुमारजीका मत है कि पूँछ छोटी नहीं की, क्योंकि यदि पूँछ छोटी करते तो लपेटे हुए कपड़े निकल जाते। गौड़जी कहते हैं कि—'निबुक' में यह भाव है कि श्रीहनुमान्‌जीने अपने शरीरको एकदम छोटा कर लिया जिससे सहज ही बन्धनके बाहर हो गये, साथ ही पूँछ भी छोटी हो गयी, जिससे बँधा हुआ अत्यन्त लंबा कपड़ोंका पुछल्ला जलता हुआ रह गया। इसीको लेकर वे कनक अटारीपर चढ़ गये और यद्यपि उन्होंने अपना आकार बहुत लंबा-चौड़ा कर लिया तथापि अब उन्हें पूँछ बढ़ानेकी आवश्यकता न थी। 'परमलघु रूप', यथा—'**ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत्॥**' (वाल्मी० ५। ५३। ४२), '**सूक्ष्मो बभूव बन्धेभ्यो निःसृतः**' (अध्यात्म० ५। ४। ४०)।] (ख)—*'कनक अटारी'* से रावणका भवन अभिप्रेत है; यथा—*'कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि रावनभवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो।'* (क० ५। ४) पूँछ जलानेकी आज्ञा रावणने ही दी थी इसीसे प्रथम उसके महलपर चढ़े। निशाचरियाँ श्रीजानकीजीको डरवाती थीं, इसीसे उनको डरवाया। (ग)—*'भईं सभीत'* से जनाया कि सब स्त्रियाँ तमाशा देखनेके लिये अटारियोंपर बैठी थीं।—[त्रिजटाका स्वप्न सुनकर निशाचरियाँ जो वहाँ थीं वे सब डरी थीं, यथा—*'सपनें बानर लंका जारी।""यह सपना""होइहि सत्य""॥ तासु बचन सुनि ते सब डरीं।'* (५। ११। ३—८)। उसने औरोंने भी सुना। अब वानरको प्रत्यक्ष अटारीपर देख स्वप्नको सत्य जानकर 'सभीत' अत्यन्त भयभीत हुईं। वा, रावणके महलपर चढ़े हैं, अतः 'निशाचर-नारी' से रावणकी स्त्रियाँ ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। 'सभीत' हुईं कहकर वाल्मीकीयके '**क्रन्दन्त्यः सहसा पेतुः स्तनन्धयधराः स्त्रियः। काश्चिदग्निपरीतांग्यो हर्म्येभ्यो मुक्तमूर्धजाः॥ पतन्त्योरेजिरेऽभ्रेभ्यः सौदामन्य इवाम्बरात्॥**' (५। ५४। २६-२७) इन श्लोकोंका भाव जनाया है। अर्थात् वे

* व्र० चं०-'पावक""' पायकुलक, 'भयउ""' चण्डी (९) पायकुलक।

ऐसी भयभीत हुईं कि दुधमुँहे शिशुओंको गोदमें लिये रोती हुई सहसा आगमें गिर पड़ती थीं, बहुत-सी स्त्रियाँ चारों ओरसे अग्निसे घिरकर सिरके बाल खोले अटारियोंपरसे नीचे कूद पड़ती थीं। पुनः यथा—'*पानी! पानी! पानी!! सब रानी अकुलानी कहैं, जाति हैं परानी, गति जानी गजचालि है। बसन बिसारैं, मनिभूषन सँभारत न, आनन सुखाने, कहैं क्योंहू कोऊ पालिहै॥*' (क० ५। १०) '*रानी' अकुलानी सब डाढ़त परानी जोहिं, सकै न बिलोकि बेषु केसरीकुमारको। मीजि-मीजि हाथ, धुनैं माथ दसमाथ तिय*"""।' (क० ५। १२)—यह रानियोंके भयका स्वरूप है।]

टिप्पणी—☞ ३ उस समयका रूप ध्यान करके देखिये। एक तो त्रिकूटाचल ऊँचा, उसपर लंकापुरी बसी है, सो भी बड़ी ऊँची, उसमें भी रावणका भवन सबसे ऊँचा—इसके भी कँगूरेपर जाकर हनुमान्‌जी खड़े हुए और इस समय बड़ा विशाल रूप धारण कर लिया है; यथा—'*कपि बढ़ि लाग अकास*'। समस्त आकाश इस समय अग्निमय हो गया है, मानो आकाशरूपी समुद्रमें पूँछ बड़वानल है, यथा—'*बालधी बिसाल बिकराल, ज्वालजाल मानो, लंक लीलबेको काल रसना पसारी है। कैधौं व्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीररस बीर तरवारि सो उघारी है॥ 'तुलसी' सुरेसचापु कैधौं दामिनी-कलापु, कैधौं चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है। देखें जातुधान-जातुधानीं अकुलानी कहैं, कानन उजारयो, अब नगरु प्रजारी है॥*' (क० ५। ५)

दो०—हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास॥ २५॥*

शब्दार्थ—**मरुत**—वेदोंमें इन्हें रुद्र और वृश्निका पुत्र लिखा है और इनकी संख्या ६० की तिगुनी मानी गयी है, पर पुराणोंमें इन्हें कश्यप और दितिका पुत्र लिखा गया है, जिसे उसके वैमात्रिक भाई इन्द्रने गर्भ काटकर एकसे उनचास टुकड़े कर डाले थे, जो उनचास 'मरुत' हुए। वेदोंमें मरुद्‌गणका स्थान अंतरिक्ष बताया है। उनके घोड़ेका नाम प्रशित बतलाया है तथा इन्हें इन्द्रका सखा कहा है। (श० सा०) **अट्टहास**=खिलखिलाकर उच्चस्वरसे हँसना।

अर्थ—उस समय भगवान्‌की प्रेरणासे उनचासों पवन चलने लगे। हनुमान्‌जी अट्टहास करके (खिलखिलाकर हँसकर उच्चस्वरसे) गर्जे और बढ़कर आकाशसे जा लगे॥ २५॥

नोट—१ ओज गुणसम्बन्धी अक्षरोंके शाब्दिक प्रभावको विचार कीजिये। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१ (क) '*हरि प्रेरित*""', यथा—'**वायुर्वहति मद्भयात्**', '**भयादिन्द्रश्च वायुश्च**""' (कठ० २। ३। ३) 'हरि' शब्द बहुत अर्थोंका बोधक है—वानर, इन्द्र, भगवान्, पवनके अधिकारी देवता। 'हरिप्रेरित' का भाव यह कि उनचासों पवन प्रलयमें ही चलते हैं और कभी नहीं चलते। '*चले पवन उनचास*' कहनेका भाव कि अग्नि पवनका सहारा पाकर अत्यन्त वेगसे कालाग्निकी तरह अत्यन्त प्रचण्ड होकर बढ़ने और एक घरसे दूसरे घरमें पहुँचने लगा। यथा—'**श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः। कालाग्निरिव जज्वालः प्रावर्धत हुताशनः॥ प्रदीप्तमग्निं पवनस्तेषु वेश्मसुचारयन्**' '**युगान्तकालानलतुल्यरूपः समारुतोऽग्निर्ववृधे दिवस्पृक्।**' (वाल्मी० ५। ५४। २१-२२, ३२) पं० शिवलाल पाठकजी 'हरि' का यहाँ 'वानर' अर्थ ग्रहण करके यह भाव लिखते हैं कि हनुमान्‌जीने रावणके बंदीखानेमें बँधे पड़े हुए उनचासों पवनोंके बन्धन खोल दिये, इसीसे उनचासों पवन चलने लगे। वायु बंधनमुक्त होनेपर आकाशमें जा लंकादहनकी शोभा देख '*अट्टहास करि*' अर्थात् हँसा।† (ख) '*अट्टहास*' करके गर्जनेका भाव यह कि पहले सरस्वतीकी सहायता समझकर मुस्कराये थे, अब उनचासों पवनोंकी सहायता समझकर 'अट्टहास' किया कि अब काम खूब अच्छा बनेगा।

* यह दोहा दोहरा है—(ब्र० चं०)

† प्र० प० प्र० का मत है कि 'वानर' अर्थ होनेसे 'ईशित्व' सिद्धि प्रकट होती है। मा० त० सु०—एक ही पवनसे काम चल जाता उनचासों क्यों चलाए गये? उत्तर—इससे भक्तपर अनुकूलता दिखायी। पुनः, हनुमान्‌जीके 'राखि न सकहिं राम कर द्रोही' इस वचनको सत्य करनेके लिये। पुनः, हनुमान्‌जीके प्रताप और बलकी वृद्धि एवं रावणके भयके लिये।

[पूर्व इस विचारसे कि कार्यमें विघ्न न पड़ जाय, वे मनमें मुस्कराये थे, अब पवनकी सहायता पाकर मनोरथकी विशेषरूपसे एवं शीघ्र सिद्धि देखकर खिलखिलाकर हँसे कि लो तुमने 'बहु हाँसी' की थी उसका बदला लो। बाबा हरिदासने हँसनेके सात भाव और लिखे हैं। अट्टहासकर गर्जे जिसमें श्रीसीताजीको विश्वास हो जाय कि उनकी कृपासे मुझे अग्नि शीतल हो गया है, मैं जल नहीं रहा हूँ (**सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च।**' (वाल्मी० ५। ५३। ३७)] जलता हुआ होता तो हँसता नहीं।—(१) रावण विस्मित हो जाय कि इसके अद्‌भुत अभूत कार्य हैं, अब मेरा काल आ गया—(२) सिद्धमुनि और देवताओंको आनन्द और विश्वास हो कि रावण अब अवश्य मारा जायगा—(३) रावणने सीताजीको संताप दिया, अब वह जान ले कि रामभक्तको संताप देनेवाला तुरंत दुःख पाता है।—(४) श्रीरामनाम और श्रीरामभक्तिका प्रभाव दिखाते हैं कि देख, अग्नि मुझे न जलाकर तेरे नगरको जला रहा है।—(५) वाटिकामें तू सीताजीको दुर्वचन कहता था और मैं छिपा सुनता था। मेरी इस करनीको धिक्कार है—उस कालिमाको मैंने धोनेकी प्रतिज्ञा की थी सो श्रीरामकृपासे पूरी होनेको है।—(६) *['कहौंगो मुखकी समरसरि कालि कारिख धोइ॥ करत कछू न बनत हरिहिय हरष-सोक समोइ। कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोइ॥'* (गीतावली ५। ५)—सम्भवतः इन वचनोंको लेकर यह भाव कहा गया है।] जो वस्तु श्रीरामजीसे विमुख हो उसे जलानेमें शोच-संकोच न करना चाहिये; यथा—*'जरउ सो संपति सदन सुख'''''।'* जलतेमें हँस-हँसकर देखना उचित है। अतः हँसे। (७) (ग) पहले बन्धनसे निकलनेके लिये 'परम लघु रूप' हो गये थे, अब बढ़कर आकाशमें जा लगे; जिसमें राक्षस भयसे निकट न आवें। बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। पहले एक अङ्गका बढ़ना कहा; यथा—*'बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला'* और अब *'कपि बढ़ि लाग अकास'* अर्थात् पूँछके योग्य शरीर भी हो गया। (घ) राक्षसोंकी करनीसे श्रीहनुमान्‌जीकी करनीका मिलान—

राक्षसोंकी करनी	कपिकी करनी
कौतुक लागि सभा सब आए	*१ बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला*
मारहिं चरन	*२ जातुधान पुंगीफल जब तिल धान हैं*
करहिं बहु हाँसी	*३ अट्टहास करि*
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी	*४ गर्जे*
पूँछ प्रजारी	*५ मंदिर मंदिरमें आग लगाई*
सबकी ममता घरमें	*६ कपि कैं ममता पूँछ पर*
नगरकी प्रदक्षिणा कराई	*७ नगर जलाकर सबको नगरके बाहर दौड़ाया*
कपि बंधन सुनि निसिचर धाये	*८ मंदिर ते मंदिर चढ़ि धाई*

इस मिलानका भाव यह है कि कपिजी कहते हैं कि तुम हमें हँसे, पूँछमें आग लगायी, मारा, कौतुक देखा; अब हम तुमको हँसते हैं, घर-घर आग लगाते हैं; तुमको मारते और तुम्हारा कौतुक देखते हैं।

नोट—२ *'कपि बढ़ि लाग अकास'* इति। वैज्ञानिक दृष्टिसे इसपर गौड़जीका लेख पूर्व *'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा'* में आ चुका है। अब विश्व-साहित्यके नातेसे यहाँ श्रीलमगोड़ाजीका मत दिया जाता है।

महाकाव्य-कलाके समझने और उससे आनन्द उठानेमें हमारी कल्पनाशक्ति ऐसी होनी चाहिये कि खूब घट और बढ़ सके। रबड़ क्या, गैसका-सा बढ़ना और सिकुड़ना हो तब ठीक लगे। इसीसे मिलटनने भी 'पैरैडाइज लास्ट' में दानवोंके वैसे सम्मिलनको उनकी राजसभामें बाँधा है कि या तो बहुत-सी जनता बाहर थी या जब सूक्ष्म हुए तो सब अन्दर आ गये और जगह खाली रह गयी।

हमारे यहाँ तो योगदर्शनमें वैसी स्थितियोंको योगद्वारा प्राप्त करनेके उपायतक दिये हुए हैं। हाँ, दिव्य योनियोंमें वे स्वाभाविक होती हैं। देव, असुर, नाग इत्यादि योनियाँ सब दिव्य ही हैं, किसीमें दैवी सम्पत्तिका विकास है और किसीमें आसुरीका। फिर हनुमान्‌जी तो पवनसुत ही ठहरे। वायु (गैस) का

घटाव-बढ़ाव उनमें होना कौन-सी बड़ी बात है?

देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई॥ १॥
जरइ* नगर भा लोग बिहाला। झपट लपट बहु कोटि कराला॥ २॥†
तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिं उबारा॥ ३॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीकी देह परम विशाल और परम हलकी है, एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरपर दौड़कर चढ़ जाते हैं॥ १॥ नगर जल रहा है लोग विह्वल और व्याकुल हो गये; आगकी बहुतेरी करोड़ों (असंख्य) भयङ्कर लपटें झपट रही हैं॥ २॥ हा तात! हा माता! इस अवसरपर हमें कौन बचानेवाला है? यही पुकार (चारों ओर) सुनायी पड़ती है॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'देह बिसाल""'* इति (क) विशाल देहमें हलकापन नहीं होता, वह भारी होती है, अतः विशाल देह कहकर *'परम हरुआई'* कहा। अर्थात् यद्यपि देह विशाल है पर अत्यन्त हलकी है; इसीसे दौड़-दौड़कर एक मन्दिरसे कूदकर दूसरेपर, दूसरेसे तीसरेपर, इस प्रकार जा-जाकर उनमें आग लगाते हैं। (ख) जितनी ही देह विशाल है उसीके अनुमानसे उतना ही वह हलकी है। परम विशाल ऐसी कि आकाशसे लगे हैं, यह वृद्धिकी अवधि है, और, *'परम हरुआई'* यह हलकेपनकी अवधि है। (ग) एक बार चढ़ना प्रथम कह चुके हैं—*'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी',* अब यहाँ पुनः चढ़ना कहकर जनाते हैं कि मन्दिर उत्तरोत्तर ऊँचे हैं, इसीसे एकसे दूसरेपर चढ़ना कहा। एकसे दूसरा ऊँचा न होता तो *'चलि जाई'* कहते। (घ) *'धाई'* से जनाया कि बड़े जोरसे दौड़कर लङ्काको क्षणमात्रमें जलाया, यह शीघ्रता आगे कवि स्वयं दिखाते हैं—*'जारा नगर निमिष एक माहीं।'* घी-तेल पूँछसे टपकता जाता है और आग लगती जाती है, जैसे मोमसे रूईमें और बारूदमें आग लगे, इसी प्रकार आग छूते ही मणियों और स्वर्णके स्थान भी जल उठे। कपि तो दौड़तेमात्र हैं, आग लगती जाती है, उसके लगानेका यत्न नहीं करना पड़ता।

[मिलान कीजिये—'**भवनाग्रेषु लङ्कायां विचचार महाकपिः॥**', '**गृहाद् गृहं राक्षसानां**""' (वाल्मी० ५। ५४ ६, ७) वाल्मीकिजीने जो श्लोक ६ से १६ तकमें लिखा है कि हनुमान्‌जी भवनोंकी अटारियोंपर घूमने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने फिर क्रमसे प्रहस्त, महापार्श्व, वज्रदंष्ट्र, शुक, सारण, मेघनाद इत्यादि समस्त प्रधान-प्रधान राक्षसोंके घर फूँके—यह सब भाव *'मंदिर ते मंदिर""'* से जना दिया है।

प० प० प्र०—*'मंदिर ते मंदिर""'* इति। यहाँ गोस्वामीजी अपनी भावना प्रकट कर रहे हैं। पाषाणादिकी प्रतिमा होनेसे स्थान मन्दिर बन जाता है और यहाँ तो साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी खड़े हैं तब वह उनकी भावना उपासनाके अनुकूल मन्दिर है ही। प्रथम तो हनुमान्‌जीने *'मंदिर मंदिर प्रति सोधा'* करके राक्षसभवनोंको भीतरसे पवित्र किया और अब अपने स्पर्शसे उन्हें बाहरसे पवित्र करके अग्निदेवको समर्पण करते हैं। इस पावककी ज्वालासे समस्त निशाचरोंके अन्तःकरण पवित्र होंगे और वे रावणके प्रतिकूल तथा रामकार्यानुकूल बन जायँगे।

टिप्पणी—२ *'जरइ नगर भा लोग बिहाला""'* इति। (क) यहाँ 'भा' एक वचन पद दिया-जातीत्वके विचारसे अथवा यह जनानेके लिये कि प्रत्येक राक्षस, जनतामेंका प्रत्येक जन व्याकुल है एक वचन क्रिया दी। (ख) [*'जरइ नगर'* से यह भी जनाया कि हीरा, मूँगा, पन्ना, मोती, चाँदी और स्वर्ण आदि अनेक धातुएँ भी अग्निके तापसे पिघलकर बहती थीं; यथा—'**वज्रविद्रुमवैदूर्यमुक्तारजतसंहतान्॥ विचित्रान् भवनाद्धातून्स्यन्दमानान्ददर्श सः॥**' (५। ५४। २७-२८)' लंका सोनेकी थी, अनेक रत्नजटित उसमें भवन थे। सभी जलकर पिघल गये—यह अग्निकी करालता है।] (ग) आदिमें *'जरइ नगर',* अन्तमें *'झपट लपट बहु""'* और मध्यमें *'भा लोग बिहाला'* कहकर जनाया कि सब लोग अग्निके बीचमें हैं, अग्निसे

* दपट—कोदवराम। जरत—रा० प्र०।

† 'देह""।', 'जरइ""।', (३), (४) पायकुलक है, 'मन्दिर""।', अनुकूल और 'झपट""' चण्डी भेद हैं। (ब्र० चं०)।

घिरे हुए हैं। अथवा, यह कि लोग इससे व्याकुल हैं कि नगरभरमें एकबारगी अग्नि लग गयी, लोग निकलकर भाग न सके, जहाँ-के-तहाँ ही रह गये। (घ) उनचासों पवन चले इसीसे *'झपट बहुत'* और बहुत जगह आग लगी इसीसे *'बहुकोटि लपट'* कहा। करालसे अग्निकी विलक्षणता दरसाया। यथा—*'जुग षट भानु देखे प्रलयकृसानु देखे, सेष-मुख-अनल बिलोके बार-बार हैं॥ 'तुलसी' सुन्यो न कान सलिलु सर्पी समान, अति अचिरिजु कियो केसरीकुमार हैं॥'* (क० ५। २०)। ऐसी अग्नि नहीं देखी कि पानी पड़नेसे ऐसी बढ़े जैसे घी पड़नेसे। कहाँ तो हनुमान्‌जीको जलाने गये और जल गये आप ही? (ङ) यहाँतक बड़ोंका बेहाल होना कहा, आगे छोटोंकी व्याकुलता कहते हैं।

टिप्पणी—३ (क) उबारना=बचाना। यथा—*'उबरा सो जनवासहि आवा'*। *'तात मात हा·····'* कहकर *'को हमहिं उबारा'* कहनेका भाव कि जो हमें इस समय बचा ले वह माता-पितासे भी अधिक है। *'हा' इति कष्टे।* बड़े कष्टसे पुकारते हैं, बहुत व्याकुल हैं। (ख) *'पुकारा'* का भाव कि हाय हमारी पुकार तो सुनिये, कोई भी नहीं सुनता! (ग) *'तात'* पद पिता, पुत्र, भाई, मित्र इत्यादि सभीका वाचक और बोधक है। एक ही शब्दसे सबका ग्रहण करा दिया। यथा—*'धीयको न माय, बाप पूत न सँभारहीं।'* (क० ५। १५)

नोट—१ *'भा लोग बिहाला·····सुनिय पुकारा'* का स्वरूप वाल्मीकीय और कवितावलीमें बड़ा सुन्दर दिखाया गया है। स्त्रियोंका सभीत होना ऊपर दिखाया जा चुका है।—२५ (१) देखिये। नगरनिवासी सभी व्याकुल हैं, रोते चिल्लाते हैं, यथा—'**रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम्।**' तथा '**हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्। रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः॥**' (वाल्मी० ५। ५४। ३९, ४०) अर्थात् हा तात! हा पुत्र! हा कान्त! हा मित्र! हा जीवितेश! आज हमारे समस्त शुभ पुण्य नष्ट हो गये। इस प्रकार सब राक्षस डरे हुए बहुत बक रहे हैं। पुनः यथा—*'हाट बाट कोट ओट अट्टनि अगार पौरि, खोरि, खोरि दौरि दौरि दीन्ही अति आगि है। आरत पुकारत सँभारत न कोऊ काहु, व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि हैं॥'* ; *'लागि लागि आगि भागि भागि चले जहाँ तहाँ, धीयको न माय बाप पूत न सँभारहीं। छूटे बार बसन उघारे धूमधुंध अंध, कहैं बारेबूढ़े बारि बारि बारबार ही।·····नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति, तात तात! तौंसियत झौंसियत झारहीं॥'* *'लपट कराल ज्वालजालमाल दुहूँ दिसि, धूम अकुलाने पहिचानैं कौन काहि रे। पानी को ललात बिललात जरे जात गात, परे पाइमाल जात भ्रात! तू निबाहि रे॥ प्रिया तू पराहि नाथ नाथ! तू पराहि, बाप बाप! तू पराहि, पूत पूत! तू पराहि रे। तुलसी बिलोकि लोग ब्याकुल बिहाल कहैं, लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे॥'* (कवित्तरामा० ५। १३, १५-१६) (देखिये, *'तात मातु हा·····'* का कैसा सुन्दर दृश्य है)। व्याकुल ऐसे हैं कि सर्वत्र वानर ही देख पड़ता है, नेत्र मूँदनेपर भी वह सामने देख पड़ता है। यथा—*'बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति, पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिए। अध ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर बिलोकिए। मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो, धाइ धाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को बिलोकिए॥'* (कवित्तरामा० ५। १७)

नोट—२—मा० त० सु०—*'को हमहिं उबारा'* का भाव कि जिसको पुकारा जाता है वह स्वयं ही उसीमें पड़कर पुकार रहा है, अर्थात् अपनी-अपनी सबको पड़ी है तब कौन किसको बचावे।

हम जो कहा यह कपि नहिं होई। बानर रूप धरे सुर कोई॥ ४॥
साधु अवज्ञा कर फल ऐसा। जरै नगर अनाथ कर जैसा॥ ५॥*

अर्थ—हमने जो पहले कहा कि यह वानर नहीं है या हो सकता, यह कोई देवता ही वानररूप धरे हुए है (वही ठीक निकला)॥ ४॥ साधुकी अवज्ञा (अनादर, अवहेलना) का ऐसा ही फल होता है कि (यह) नगर अनाथके (नगरके) समान जल रहा है। अर्थात् लंकाका नाथ रावण बैठा है तब भी यह अनाथ-नगर-सा जल रहा है॥ ५॥

* 'साधु·····' अनुकूल, 'जरै नगर·····' से (८) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)

टिप्पणी—१ *'कपि नहिं होई'……।'* वानरमें इतना पराक्रम नहीं होता। ऐसा पुरुषार्थ देवतामें ही है और रावणसे देवताओंसे ही वैर है, यथा—*'हमरे बैरी बिबुध बरूथा।'* अतएव हमारा अनुमान ठीक है कि यह वानर नहीं देवता है।—यह उक्ति मंदोदरीकी है। रावणको अशोकवनके उजड़नेका बड़ा कष्ट है; उसपर मंदोदरी कहती है-*'काननु उजार्‌यो तो उजार्‌यो, न बिगार्‌यो कछु, बानरु बेचारो बाँधि आन्यो हठि हारसों। निपट निडर देखि काहू न लख्यो बिसेषि, दीन्हों ना छुड़ाइ कहि कुलके कुठारसों॥ छोटे औं बड़ेरे मेरे पूतऊ अनेरे सब, साँपिन सों खेलैं, मेलैं गरे छुराधार सों। 'तुलसी' मदोवै रोइ-रोइ कै बिगोवै आपु, बार बार कह्यो मैं पुकारि दाढ़ीजारसों'* (क० ५। ११)

नोट—१ (क) *'हम जो कहा'……'* यह वचन किसके हैं। इसमें मतभेद है। बाबा हरिप्रसादजीका मत है कि पूर्व जो राक्षस रावणके पास पुकारने आये थे उसने ऐसा कहा होगा यह सम्भव है। *'प्रभु मर्कट बलभूरि', 'कपिभारी'* आदिमें भी यही भाव झलकता है। इसीपर रावण और उसके मन्त्रियोंने भी यही कहा कि यह वानर नहीं हो सकता। मा० त० सु० का मत है कि पुरवासियों या मन्त्रियोंने पहले इस विषयमें राय दी थी। पुनः, विपत्तिकालमें इस प्रकारके प्रलाप प्रायः लोगोंके मुखसे निकल पड़ते हैं। पुनः, अति उत्कट अधर्म करनेवालेको दुःख ही पड़नेपर चिन्ता होती और सूझती है, यथा—*'जमपुरपंथ सोच जिमि पापी।'* वाल्मीकीयके अनुसार तो अशोकवाटिकाकी राक्षसियोंने प्रथम-प्रथम रावणसे कहा था कि यह इन्द्र या कुबेर आदिका दूत जान पड़ता है जो वानररूपसे आया है। मेघनादद्वारा लाये जानेपर प्रहस्तने रावणके कहनेसे भी हनुमान्‌जीसे ऐसे ही प्रश्न किये हैं कि तुम वानररूपमें किसके भेजे हुए आये हो? इन्द्र, यम, कुबेर, विष्णु आदिके दूत हो। पर लंका-दहनपर वाल्मीकिजी कहते हैं कि उस समय अनेक समझदार राक्षसनेता एकत्र होकर ऐसी कल्पनाएँ कर रहे थे। यथा—'**नूनमेषोऽग्निरायातः कपिरूपेण हा इति।**' (५। ५४। २५) अर्थात् लोग चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि हाय! निश्चय ही कपिका रूप धरकर यह अग्निदेव ही आये हैं। '**वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा साक्षाद्यमो वा वरुणोऽनिलो वा। रौद्रोऽग्निरर्को धनदश्च सोमो न वानरोऽयं स्वयमेव कालः॥ किं ब्राह्मणः सर्वपितामहस्य लोकस्य धातुश्चतुराननस्य। इहागतो वानररूपधारी रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः॥ किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य रक्षोविनाशाय परं सुतेजः।'……आगतं वा॥ इत्येवमूचुर्बहवो विशिष्टा रक्षोगणास्तत्र समेत्य सर्वे……॥**' (वाल्मी० ५। ५४। ३५—३७) (अर्थात्) लंकापुरीको प्राणियों, घरों इत्यादिसहित भस्मसात् हुई देख समझदार राक्षसनेता एकत्र हो इस प्रकार कह रहे थे कि—यह या तो वज्रधारी देवराज इन्द्र है या साक्षात् यम है या वरुण, पवन, रुद्र, अग्नि, सूर्य, कुबेर अथवा सोम है। यह वानर नहीं है, प्रत्युत साक्षात् काल है। यहाँ सबके पितामह चार मुखवाले ब्रह्माका क्रोध ही अथवा विष्णुभगवान्‌का महातेज कपिरूपसे आया है।—गोस्वामीजीने यह सब *'हम'* बहुवचन पद देकर जना दिया है कि बहुत-से लोग ऐसा कह रहे हैं। *'हम'* से नगर-निवासी पुरुषोंके अतिरिक्त राक्षसियों और मंदोदरीका भी ग्रहण हो सकता है। *'कहा'* को भूतकालिक क्रिया लेनेसे ही यह प्रश्न उठता है कि पूर्व किसने कहा था। परंतु 'हमने जो कहा' यह बोलचालका मुहावरा भी है। आपसमें बात करते समय आगे-पीछे ऐसा कहा जा सकता है। (ख) *'सुर कोई'* कहनेसे वाल्मीकीयके उपर्युक्त सभी अनुमानोंका ग्रहण हो गया। *'हम जो कहा……कोई'* में भाव यह कि हमारी सम्मति न थी कि इसे दण्ड दें, पर रावणके दुराग्रहका फल हमें भी भोगना पड़ रहा है। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—२ (क) *'साधु अवज्ञा'……'* हनुमान्‌जी साधु हैं। लड़ना, चरण प्रहार करना, हँसना, पुच्छमें आग लगाना, यह सब उनका अनादर है। (ख) *'अनाथ कर जैसा'।* भाव कि लड़की-लड़के *'तात मातु'* कहकर पुकारते हैं, कोई सुनता ही नहीं। वस्तु जलती है, कोई सँभाल नहीं करता। घर जलता है मानो इनका कोई नाथ (मालिक, स्वामी, रक्षक) नहीं है।—यह वक्ताओंकी उक्ति है। यहाँ माल-असबाबका जलना कहा।

नोट—२ जिसके माता-पिता न हों वह पुत्र अनाथ, जिस 'अबला' के पति वा पुत्र न हों वह विधवा अनाथ, जो हाथ, पैर और नेत्र आदिसे रहित हो वह भी एक प्रकारसे अनाथ ही है। जिस

पशु-पक्षी, भवन आदिका कोई मालिक न हो वह अनाथ, जिस नगरका शासन करनेवाला राजा आदि कोई न हो वह भी अनाथ है—इनको कोई लूटे, जलावे, संताप दे तो कोई सहायक नहीं होता है, कोई रक्षा नहीं करता। यहाँ रावण राजा होते हुए भी नगर उसके देखते-देखते भस्म कर दिया गया और वह कुछ न कर सका। इसीसे *'अनाथ कर जैसा'* कहा। *'अनाथ कर जैसा'* से जनाया कि अनाथ नहीं होते हुए भी 'अनाथका-सा' जल रहा है। कवितावलीमें मन्दोदरीजीने रावणको समझाते हुए भी ऐसा ही कहा है, यथा—*'नगरु प्रजार्‌यो, सो बिलोक्यो बलु कीसको। तुम्हैं विद्यमान जातुधानमंडली''' ॥'*; *'सहित समाज गढ़ु राँड़-कैसो भाँगियो॥'* (यह अङ्गदके सम्बन्धमें कहा है पर भाव अनाथका ही है); *'ख्याल लंका लाई कपि राँड़की-सी झोपरी॥'* (६। २२, २४, २७) यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

लमगोड़ाजी—श्रीतुलसीदासजीके उपदेश कितने मौकेके हैं, पर कैसे भावपूर्ण होते हैं। 'शा' महोदयकी तरह गद्यात्मक और रूखे नहीं।

जारा नगर निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥ ६॥
ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥ ७॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने समस्त नगरको निमिषमात्रमें ही जला डाला। एक विभीषणका ही घर नहीं जलाया॥ ६॥ हे गिरिजे! जिसने अग्निको पैदा किया, उसीके दूत श्रीहनुमान्‌जी हैं; इसी कारण वह (श्रीहनुमान्‌जी) नहीं जले॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'निमिष एक माहीं'* अर्थात् बड़ी शीघ्रता जलानेमें की, जबतक लंका न जली तबतक पलक न मारी। जो 'सर्षप' शब्द उच्चारण होनेसे भी कम समयमें ६० लक्ष योजन जा और लौट सकते हैं, उनका पलभरमें लंका जला डालना क्या बड़ी बात है?* अथवा, निमिष 'अल्पकाल' का वाचक है। 'पलभरमें' यह मुहावरा है, लोकोक्ति है। अथवा, साधु-अवज्ञाका फल शीघ्र मिलता है, इसीलिये *'निमिष एक माहीं'* कहकर शीघ्रता दर्शित की। यथा—*'साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥'* (५। ४२) (ख)-*'एक बिभीषण'*-अर्थात् इस घरको छोड़ कोई और स्थान लंकाभरमें न बचा। ये विभीषणका घर जानते हैं, क्योंकि पूर्व ही हो आये हैं। वहाँ हरिमन्दिर, तुलसी, रामायुध आदि हैं। पुनः, विभीषण सनाथ हैं उन्होंने *'साधु अवज्ञा'* नहीं की, इत्यादि कारणोंसे उनका घर बचा। अवज्ञाका फल है कि धातुमें और पाषाणमें भी आग लगती है। और पासके घर जले तो भी उन मन्दिरोंसे विभीषणके मन्दिरमें आग न पहुँच सकी।

टिप्पणी—२ (क) *'अनल जेहि सिरिजा।'* अग्नि भगवान्‌के मुखसे उत्पन्न हुआ यथा—**'मुखादग्निरजायत'**, *'आनन अनल अंबुपति जीहा'*, *'हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥'* (ख) *'गिरिजा'* सम्बोधनका भाव कि तुम हिमाचलकी कन्या हो, हनुमान्‌जीको अग्नि तुम्हारे पिताके समान शीतल हो गयी। यथा—*'गोपद सिंधु अनल सितलाई।'* पुनः, जनाया कि उनको यह सुनकर शंका हुई कि 'हनुमान्‌जी अग्निसे कैसे बचे?' उसीका समाधान शिवजी करते हैं। (ग) ☞ *'साधु अवज्ञा कर फल ऐसा। जरै नगर अनाथ कर जैसा॥'* इसमें साधुका और *'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन॥'* इसमें भगवान्‌का प्रताप

* यह चरित उस समयका है जब शक्तिसे लक्ष्मणजी मूर्छित पड़े थे और यह समस्या उपस्थित थी कि धवलागिरि, जो लंकासे साठ लक्ष योजनपर है, पर कौन जाकर रात्रिमें ही संजीविनी ला सकता है? यथा—'नलस्त्रिरात्रं पुनरेति गत्वा तत्रैव मैन्दद्विविदौ द्विरात्रम्। सुग्रीवनीलौ पुनरेकरात्रं वीरांगदो यामचतुष्टयेन॥ नीत्वा लंकां सुषेणं पुनरनिलसुतः प्रार्थयामास रामं देवाज्ञां देहि वीरस्तव हितकरणोपस्थिताः सन्ति सर्वे। लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमांस्तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वाऽत्र चैमि।' (हनु० ना० १३। १९-२०) अर्थात् नल तो द्रुहिणगिरिपर जाकर तीन रात्रिमें लौट सकते हैं, मैन्द और द्विविद दो रात्रिमें, सुग्रीव और नील एक दिनरात्रिमें और वीर अंगद चार पहरमें ही लौटकर आ सकते हैं। सुषेणको लंकामें पहुँचाकर पवनसुतजी श्रीरामजीसे विनय करने लगे कि—स्वामिन्! आज्ञा दीजिये। वह पर्वत यहाँसे साठ लाख योजनपर है। अग्निपर धरे हुए तेलकी ज्वालामें डाले हुए सरसोंके फूटनेका शब्द जितनी देरमें हो उतने ही बीचमें मैं वहाँ जाकर पर्वतको लेकर आ जाऊँगा—यह आपका वेग और सामर्थ्य है।

कहा। साधुकी अवज्ञासे लोगोंके स्थान जले, साधुके आदरसे विभीषणजीका स्थान बचा और श्रीरामकृपासे हनुमान्‌जी बचे। *'जरा न सो'*, सो कौन? *'जारा नगरु'* जो (हनुमान्) सो 'जरा न'। *'सो'* का अन्वय पिछली चौपाईसे है। *'तेहि कारन'*—कारण पूर्वार्द्ध *'ताकर दूत.....'* में कहा गया।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलाकी इस युक्तिकी ओर ध्यान दिलाया जा चुका है कि कितना संक्षिप्त संकेत आधिदैविक रहस्यकी ओर होता है; पर होता है अवश्य। मसनवी मौलानारूपमें भी जब एक संत अग्निमें नहीं जले तो कविने कहा है कि—'तुम इस ओरसे देखते हो, इसीसे अग्नि जड़ दिखती है। परदेके उस ओर देखो तो चैतन्य शक्ति दिखे।' टैगोरजीका कहना है कि हम चित्रके बाहरी अंशको देखते हैं, कैनवस (Canvas) के उस ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती, जिधरसे विधाता चित्र खींचते हैं।

नोट—१ मा० त० सु० और अन्य कुछ टीकाकारोंने *'सो'* को विभीषणका बोधक माना है। इसके उत्तरमें वीर कविजीका लेख उद्धृत किया जाता है—'जब जलानेवालेने स्वयं विभीषणजीका घर नहीं जलाया, जान-बूझकर उसे बचाया, तब पार्वतीजीको इसमें संदेह करनेका कोई कारण नहीं है। हनुमान्‌जीके साथमें जो उपकार विभीषणजीने किया था उसको पार्वतीजी सुन चुकी हैं, प्रत्युपकार करना हनुमान्‌जीका धर्म है।' अतः यहाँ विभीषणजीके घरके विषयमें शंका करनेकी कोई बात नहीं है। अतएव *'सो'* को विभीषणमें खींचकर लगानेकी आवश्यकता नहीं है। अध्यात्मरामायणमें शिवजीने कहा है कि—'**विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम्॥'; यन्नामसंस्मरणधूतसमस्तपापास्तापत्रयानलमपीह तरन्ति सद्यः। तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः संतप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन॥**' (५। ४। ४४, ४७) अर्थात् जिनके नामस्मरणसे मनुष्य समस्त पापोंसे छूटकर तुरन्त ही तापत्रयरूप अग्निको पार कर जाते हैं, उन श्रीरघुनाथजीके विशिष्ट दूतको यह प्राकृत अग्नि भला किस प्रकार संताप पहुँचा सकता था। (अध्यात्मरामायणमें भी विभीषणजीके विषयमें शङ्का नहीं है। शंका केवल हनुमान्‌जीके विषयमें है और उसका समाधान है। उसके ही अनुकूल गोस्वामीजीने भी आगे-पीछे कहा है। पर मानसकविकी उक्ति अध्यात्मसे अधिक श्रेष्ठ है। श्रीरामनामके प्रभाव-कथनकी उक्ति यहाँ उतनी सुन्दर नहीं है। पाठक स्वयं विचार कर लें।

वाल्मीकीय सुं० स० ५४ श्लो० २८ से ३३ पर्यन्त अग्नि प्रज्वलित होनेपर हनुमान्‌जीने स्वयं तर्कवितर्क किया है कि अग्नि इतने वेगसे जलती है, किन्तु वह मुझे नहीं जलाती, इसका क्या कारण है? यद्यपि भयंकर ज्वाला देख पड़ती है, तो भी पूँछमें ठंढक प्रतीत होती है। जब श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे समुद्रमें मैनाक पर्वत विश्राम देने आया तब क्या अग्निदेव कुछ भी अनुग्रह न करेंगे? अग्नि मेरे पिताके मित्र हैं। श्रीरामचन्द्रजीके प्रताप और श्रीसीताजीके अनिन्द्यत्वके प्रभावसे वे मुझे नहीं जलाते हैं। इस आवश्यक प्रश्नको भला गोस्वामीजी क्यों छोड़नेवाले थे, उन्होंने एक ही चौपाई कह दिया।

वाल्मी० ५। ५५। २४ में भी हनुमान्‌जीके विचार यही हैं; यथा—'**नूनं रामप्रभावेण वैदेह्याः सुकृतेन च। यन्मां दहनकर्मायं नादहद्धव्यवाहनः॥**' यह निश्चय है कि श्रीरामजीके प्रताप और श्रीसीताजीके पुण्यप्रभावसे मैं न जला।

नोट—२ प्रत्येक धर्म (मजहब) में ऐसी घटनाएँ अधिदैवी व्यक्तियोंके सम्बन्धमें मानी जाती है। जैसे, 'शबेमराज' की कथा मुसलमानी धर्ममें। डाक्टर एनीबसेन्ट और शंकराचार्य दोनोंके उसूल (कथन) मिलते हैं कि हमें अपनी भौतिक कसौटीपर ऐसी घटनाओंको न परखना। (कसना) चाहिये; कारण कि वह बहुत सीमित है।'

प० प० प्र० का मत है कि यहाँ दूतका अर्थ सेवक करना चाहिये, जिसमें विभीषण और हनुमान् दोनोंका अन्तर्भाव होगा। और 'एक' का अर्थ केवल लेना अनुचित है, क्योंकि ऐसा करनेसे कुम्भकर्णका घर और सब शिवमंदिरोंका भी भस्म होना मानना पड़ेगा। कुम्भकर्ण नारदोपदिष्ट रामभक्त है। अतः दूतका अर्थ 'सेवक' माननेसे शंकाका स्थान नहीं रह जाता।

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मझारी॥८॥

अर्थ—उलट-पलटकर सारी लंका जलाकर तब श्रीहनुमान्‌जी समुद्रमें कूद पड़े॥८॥

टिप्पणी—१ *'उलटि पलटि'* से जाना गया कि एक बार ओरसे छोरतक (एक ओरसे दूसरी छोरतक) आग लगाकर फिर उलटे और उलटकर जलानेपर फिर वहाँसे पलटे फिर तीसरी बार आग लगायी। एक बार एक ओरसे छोरतक गये फिर उधरसे जलाते हुए उलटे (लौटे) और दूसरी छोरतक पहुँचकर फिर जलाते हुए पलटे। इस प्रकार तीन फेरेमें लंका भस्म हो गयी।

श्रीनंगे परमहंसजी—*'उलटि पलटि'* का अर्थ यह है कि 'एक किनारे (से) आग लगाते गये, फिर बीचसे वापस आये, उसीका नाम है उलटा। फिर किनारेसे आग लगाते गये, उसीका नाम है पलटा।'

वि० त्रि०—लंकाभरके पुराने वस्त्र और तेल पूँछके बाँधनेमें खर्च हो चुका था, अतः पूँछकी आग शीघ्र बुझनेवाली नहीं थी। तीन फेरेमें लंका भस्म हो गयी, यथा—*'जारत प्रचारि फेरि फेरि सो निसंक लंक, जहाँ बाँकों बीर तोसो सूर सिरताज है।'*

लंकादाहका विस्तृत वर्णन कवितावलीमें दिया हुआ है। निविष्ट चित्तसे देखनेसे उसमें तीनों फेरोंका वर्णन पृथक्-पृथक् मालूम होता है। पहिले फेरेका वर्णन कवित्त नं० ३ से १३ *'बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर'* से *'याही बल बालिसो बिरोधु रघुनाथ सों'* तक।

दूसरे फेरेका वर्णन क० नं० १४ से २१ *'हाट-बाट, कोट-ओट, अटनि, अगार, पौरि' से मालवान! रावरेके बावरे-से बोल है'* तक। तीसरेका १५ से २५ *'भूमि भूमिपाल, 'व्यालपालक पताल'* से *'रतन जतन जारि कियो है मृगांक-सो'* तक।

हनुमान्‌जीका बड़ा विशाल शरीर है, अतः गहरे समुद्रमें कूदे जिसमें पूँछ भी बुझे और अवगाह स्नान भी हो।

नोट—१ भाव यह है कि जिसमें कुछ बच न जाय। जो पहले बच गये उसे दूसरे फेरेमें जलाया। 'उलट-पलटकर' यह मुहावरा है अर्थात् अच्छी तरहसे, एवं घूमफिरकर। इसमें दोनों भाव हैं। कुछ टीकाकारोंने और भी भाव लिखे हैं।—

(१) रा० शं०—प्रत्येक नगर दो श्रेणियोंमें बसा होता है, पूरब-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण, और बीचमें सड़क होती है। महावीरने पहले एक ओरसे जलाना आरम्भ किया और आखीरतक जलाकर दूसरी तरफ भी जलाया।

(२) प्र०—*'उलटि'* अर्थात् ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर। *पलटि*='घूमघामकर'।

(३) बाबू श्यामसुन्दरदासने एक कथा कहींसे शनिके उखाड़ने और पुनः गाड़नेकी यहाँ लिखी है, उसीसे उलटि और पलटि कहा। पर न तो कोई प्रमाण है और न यह यहाँ अर्थ है।

☞ लंकादहन क्यों हुआ इसका उत्तर इस प्रसङ्गमें पूर्वमें बीच-बीचमें आ चुका है। रामचन्द्रिकामें जो कारण दिया है, वह इस ग्रन्थके अनुकूल नहीं है। अतः यहाँ नहीं लिखा गया।

नोट—२ *'सब जारी'* से जनाया कि नगरके मणि-सुवर्णमय घर ही नहीं, किन्तु खाने, पीने, पहनने, व्यसन और शौकके सब साज-सामान, हाथी, घोड़े, रथ, रत्न इत्यादि सब कुछ भस्म कर दिया। यथा—*'झपट-लपट भरे भवन भँडारहीं। 'तुलसी' अगारु न पगारु न बजारु बच्यो, हाथी हथिसार जरे घोरे घोरसारहीं॥'* (क० सुं० २३) लंकाके पर्वत, वृक्ष और बहुतेरे प्राणी भी भस्म हो गये। यथा—**'ततः स लंकापुरपर्वताग्रे समुत्थितो भीमपराक्रमोऽग्निः।' 'सप्राणिसङ्घां सगृहां सवृक्षां दग्धां पुरीं तां सहसा समीक्ष्य॥' 'ततस्तु लंका सहसा प्रदग्धा सराक्षसा साश्वरथा सनागा। सपक्षिसङ्घा समृगा सवृक्षा·····॥'; 'दग्ध्वा पुरीं तां गृहरत्नमालिनीं·····।'** (वाल्मी० ५। ५४। ३१, ३८, ३९, ४३)

टिप्पणी २—*'कूदि परा पुनि·····'* इति। (क) भाव कि पूँछ बुझाने और श्रम खोनेके लिये समुद्रमें कूद पड़े, जैसा आगे कहते हैं, यथा—*'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम·····।'* (ख) समुद्रने समुद्र पार करते समय

श्रम दूर करनेकी इच्छा प्रकट की थी, यथा—*'तैं मैनाक होहि श्रमहारी'।* उसकी इच्छा पूरी करनेको उसमें कूद पड़े। स्नानसे श्रम दूर होता ही है; अतः *'खोइ श्रम'* कहा; नहीं तो *'पूँछ बुझाइ'* इतना ही लिखते। इसपर प्रश्न होता है कि 'उन्हें क्या श्रम हुआ?' प्रथम सौ योजन समुद्र लाँघनेका, दूसरे राक्षसोंसे युद्धमें और तीसरे लंकादहनमें जो परिश्रम हुआ वह सब स्नान करके दूर किया। (ग) यह अवभृथस्नान है जो यज्ञके अन्तमें किया जाता है। यज्ञका रूपक कवित्तरामायणमें है। यथा—*'तुलसी समिधसौंज लंक जज्ञकुंड लखि, जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं। श्रुवा सो लँगूल बलमूल प्रतिकूल हवि, स्वाहा महा हाँकि हाँकि हने हनुमान हैं॥'* (७) यह यज्ञ है। (२) *'हाट बाटहाटक पिघिल चलो घी सो घनो, कनक कराही लंक तलफति ताप सों। नाना पकवान जातुधान बलवान सब, पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों। पाहुने कृसानु पवमान सो परोसो, हनुमान सनमानि लै जँवाये चित्त चाय सों॥'* (२४)—यह भोजन है। (३) *'तुलसी निहारि अरिनारि दै दै गारि कहैं, बावरे सुरारि बैर कीन्हों रामराय सों॥'* (२४) यह गाली गान है। और *'कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी'* यह अभिमन्त्रस्नान है। *मँझारी*=मैं, यथा—*'कैकइ कत जनमी जग माँझा', 'मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा।'*

दो०—पूँछ* बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनकसुता के आगे ठाढ़ भएउ कर जोरि॥ २६॥†

अर्थ—पूँछ बुझाकर, थकावट दूर करके और फिरसे लघुरूप धारण करके श्रीहनुमान्‌जी श्रीजानकीजीके आगे हाथ जोड़कर आ खड़े हुए। (और बोले—)॥ २६॥

टिप्पणी—१ (क) *'धरि लघुरूप बहोरि'* यह पूर्वार्धमें ही *'पूँछ बुझाइ'* और *'खोइ श्रम'* के साथ देकर जनाया ये तीनों बातें सिन्धुके तीर ही हुईं। वहीं स्नान करके वहीं लघुरूप हो गये तब श्रीजानकीजीके पास आये। [*'बहोरि'* के दोनों अर्थ यहाँ लगते हैं—एक तो 'तत्पश्चात्, उसके बाद'; दूसरे 'फिर' दुबारा, तिबारा"""।' हनुमान्‌जी पाँच बार लघुरूप पूर्वमें धारण कर चुके हैं, यथा—*'अति लघुरूप पवनसुत लीन्हा।'* (२।१०), *'अति लघुरूप धरौं.....'।* (३), *'मसक समान रूप कपि धरी।'* (४।१) (लंकामें प्रवेशके लिये), *'अति लघुरूप धरेउ हनुमाना।'* (५।२) (लंकिनीके शासनके पश्चात्), *'करि सोइ रूप गयउ पुनि तहँवा।'* (८।६) (विभीषणके यहाँसे अशोकवाटिकामें जाते समय), *'पुनि लघुरूप पवनसुत लयऊ।'* (१६।९) (श्रीसीताजीको विशालरूप दिखानेके पश्चात्)। और अब छठी बार लंकादहनके पश्चात् पुनः लघुरूप हो गये। अतः *'बहोरि'* कहा। पर यह वह लघुरूप है जिस रूपसे वे श्रीजानकीजीके समीप फल खानेकी आज्ञा माँगनेके समय थे।] (ख) *'ठाढ़ भयउ कर जोरि'* इति। यहाँ हाथ जोड़कर खड़े होना प्रार्थनाके निमित्त है, क्योंकि इनसे चिह्न माँगने आये हैं। लंकादहन आदि अपना पुरुषार्थ जानकीजीसे न कहा। क्योंकि शूर-वीर अपनी करनी अपने मुखसे नहीं कहते। 'फल खानेकी आज्ञा लेकर गये थे सो फल खाकर अब आ गये', बस इतनी ही बात सामने खड़े होनेसे प्रकट हुई। अब आवृत्ति कहते हैं—

टिप्पणी-२—प्रथमावृत्ति—पाचों तत्त्वोंने हनुमान्‌जीकी सहायता की—

(१) पवनतत्त्व—*'हरिप्रेरित""चले पवन उनचास'*—अग्नि बढ़ायी।

(२) आकाश—*'अट्टहास करि गर्जा""'*—अवकाश देकर शब्द बढ़ाया।

(३) पृथ्वी—*'देह बिसाल परम हरुआई'*—देहकी गुरुता न रही।

(४) अग्नि—*'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न""'*—जलाया, नहीं।

(५) जल—*'कूदि परा पुनि सिंधु""पूँछ बुझाइ""'*-आग बुझायी, श्रम दूर किया।

टिप्पणी-३—अब दूसरी आवृत्ति कहते हैं। (क) *'खोइ श्रम'* से मज्जन सूचित किया, क्योंकि स्नानसे श्रम दूर होता है। यथा—*'मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयऊ', 'मज्जन करिय समर श्रम छीजै।'* पुनः (ख) इससे

* पूँछि=ना० प्र०। 'पुच्छ बुझाई-ब्र० चं०। † दोहा दोहरा मिश्रित है। (ब्र० चं०)

समुद्रकी इच्छाकी पूर्ति हुई। उसने मैनाकसे कहा था, मैनाकने हनुमान्‌जीसे कहा था, तब इन्होंने उत्तर दिया था कि *'रामकाज कीन्हें बिनु मोहिं कहाँ बिश्राम'।* अब कार्य करके समुद्रमें श्रम दूर किया। (ग) श्रीजानकीजीके समीपसे फल खानेको लघुरूपसे चले थे, उसी रूपसे पुनः उनके पास जा खड़े हुए, अपना वृत्तान्त कुछ न कहा, क्योंकि अभिमानरहित हैं। (घ) हाथ जोड़कर खड़े हुए जैसे राजाके सामने सेवक खड़े होते हैं, मानो कुछ करनी की ही नहीं, फल खाकर ही चले आये। अपनी करनी मानते तो लौटकर प्रणाम करते। यहाँ प्रणाम नहीं किया।—[वाल्मीकीय और अध्यात्ममें तथा हनुमन्नाटकमें भी प्रणाम करना कहा गया है; यथा—**'ततस्तु शिंशपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम्। अभिवाद्य·····'** (वाल्मी० ५। ५६। १); **'ततः सीतां नमस्कृत्य·····'** (अध्यात्म० ५। ५। १); **'जानकीं प्रणम्य रामाभिज्ञानं याचते स्म हनूमान्।'** (हनु० ना० ६। ३१)—प्रणाम करनेका भाव *'कर जोरे'* से ले सकते हैं। तरुपल्लवसे उतरकर जब सामने आये थे, तब प्रणामका उल्लेख नहीं है—*'तब हनुमंत निकट चलि गयऊ।'* फल खानेको जाते समय प्रणाम किया है। कवितावलीमें भी प्रणाम किया है, यथा—*'नाइ माथो पगिन, ठाढ़ो कर जोरि कै।'* (५। २६)

टिप्पणी-४—☞ हनुमान्‌जीको अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हैं, यथा— उदाहरण—

अणिमा (छोटा हो जाना)	१ भयउ परम लघुरूप तुरंता
महिमा (बड़ा होना)	२ कपि बढ़ि लाग अकास
गरिमा (भारी होना)	३ जेहि गिरि चरन देइ, चलेउ सो गा पाताल.....
लघिमा (हलकापन)	४ देह बिसाल परम हरुआई
प्राप्ति (अलभ्यलाभ)	५ पावक जरत देखि। अग्नि अलभ्य थी।
प्राकाम्य (कामनापूर्ण होना)	६ उलटि पलटि लंका सब जारी
ईशित्व (निर्भय होना)	७ देखि प्रताप न कपि मन संका
वशित्व (वश करना)	८ पाँचों तत्त्वोंका वशमें करना

नोट—*'जदपि कही कपि अति हित बानी'* से *'पूँछ बुझाइ·····'* तक *'पुर दहि'* प्रसंग है।

लमगोड़ाजी—भौतिक-विज्ञान दर्शनने हमारे विचार इतने संकुचित कर दिये हैं कि हम योगको मानते हुए भी जब कहीं पुराणोंमें वैसे सिद्धियोंवाले व्यक्तिका वर्णन देखते हैं तो नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं। हम अंग्रेजी पढ़े महानुभावोंका ध्यान 'शा' महोदयके Back to Mathuselas नामक नाटक और उसकी भूमिकाकी ओर फेरना चाहते हैं जिसने धुँधली-तरह ही सही, Science of Metabiology के आधारपर अब विकासवादको भी केवल भौतिक नहीं किन्तु रचनात्मक (creative) और संकल्पात्मक माना है।

प० प० प्र०—दोहा २६ के तीसरे चरणमें केवल १२ मात्राएँ हैं। मात्रा कम करके जनाया कि इस समय श्रीजानकीजीको सजीव देख हनुमान्‌जीको हर्ष हुआ और विपत्तिमें छोड़कर जाना है इससे विषाद भी है। अतः उनकी वाणी रुक गयी, वे श्रीसीताजीके चरणोंमें मस्तक नवाना भी भूल गये, हाथ जोड़कर चित्रलिखित-से तटस्थ हो गये *'मातु! मोहि दीजे! कछु! चीन्हा!!'* ऐसा पदच्छेद करनेसे भाव स्पष्ट हो जाता है। *'नाथ, एक आवा, कपि, भारी।'* (१८। ३), *'मातु! कुसल प्रभु! अनुज समेता।'* (१४। ९) देखिये।

'नाँघेउ बहुरि पयोधि'-प्रसङ्ग

मातु मोहि दीजे* कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥ १॥
चूड़ामनि उतारि तब दएऊ। हरष समेत पवनसुत लएऊ॥ २॥†

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने कहा—हे माता! मुझे कुछ पहचान दीजिये, जैसे रघुनायकजीने मुझे दिया था। (भाव कि अब रघुनाथजीके पास चला ही चाहता हूँ)॥ १॥ तब (श्रीसीताजीने) चूडामणि उतारकर दिया। हनुमान्‌जीने हर्षसहित उसे लिया॥ २॥

* 'दीजै'·····ना० प्र०, ब्र० चं०। † पायकुलक है (ब्र० चं०)।

टिप्पणी—१ *'दीजै कछु चीन्हा'।* (क) चिह्न माँगा, आज्ञा न माँगी; क्योंकि कहीं प्रेमवश आज्ञा न दें तो बड़ा असमंजस होगा। अथवा, ये विरहसे व्याकुल हैं, यदि जानेको न कहें तो आज्ञाभंग करते न बन पड़ेगा और बिना गये भी नहीं बनता। यह बात जानकीजीकी उक्तिमें स्पष्ट है, इसीसे चलना अपने अधीन रखा और यही समझकर जानकीजी दीन होकर कहती हैं—*'कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना॥ तोहि देखि सीतल भइ छाती। पुनि मो कहँ सो दिन सो राती॥'*, [**'ततः प्राह हनूमन्तं जानकी दुःखकर्शिता॥ त्वां दृष्ट्वा विस्मृतं दुःखमिदानीं त्वं गमिष्यसि। इतः परं कथं वर्ते रामवार्ताश्रुतिं विना॥'** (अध्यात्म ५। ५। ४-५) हाथ जोड़कर खड़े होकर चिह्न माँगनेसे ही जना दिया कि जानेको तैयार हैं; 'जाने' का वियोगसूचक कष्टदायक अप्रिय वचन न कहा। अध्यात्ममें जानेको भी कहा है—मानसकवि बाजी मार ले गये।]—विशेष २७ (७) देखिये। (ख) *'कछु'* का भाव कि जानकीजी दीन हैं, इनके पास विशेष वस्तु नहीं है। अध्यात्ममें भी *'किञ्चित्'* शब्द है। यथा—**'देवि किञ्चिदभिज्ञानं देहि मे येन राघवः॥ विश्वसेन्मां प्रयत्नेन ततो गन्ता समुत्सुकः।'** (५। ३। ५०-५१)। अर्थात् हे देवि! मुझे कोई ऐसा चिह्न दीजिये जिससे श्रीरघुनाथजी मेरा विश्वास करें। उसे लेकर मैं बड़ी सावधानीसे उत्सुकतापूर्वक जाऊँगा।] (ग) *'जैसे रघुनायक दीन्हा'* अर्थात् आपके विश्वासके लिये उन्होंने मुद्रिका दी थी, वैसे ही आप भी मुझे कुछ दें, जिससे उनको विश्वास हो।—[पुनः भाव कि रघुनाथजीने चिह्न दिया, उसीकी सहायतासे मैं सब विघ्नोंका अन्त कर आपके समीप पहुँच सका—*'स्वयंसिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियउ।'* (६। १७, अङ्गदवाक्य) वैसे ही आपका दिया हुआ चिह्न मुझे कुशलपूर्वक प्रभुके पास पहुँचावेगा। (पं०)]

नोट—१ चूडामणि सिरका भूषण है। इसे शीशफूल भी कहते हैं। अध्यात्ममें सिरकी लटोंमेंसे निकालकर इस मणिका देना लिखा है, यथा—**'विमुच्य केशपाशान्ते स्थितं चूडामणिं ददौ।'** (५। ३। ५२) वाल्मीकि-रा० में महारानीजी कहती हैं कि 'यह मणि आजतक मैंने बड़े यत्नसे रखी है। इसे देखकर इस दुःखमें भी तुम्हारे देखनेके समान मैं सुख पाती हूँ।—**'एतं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ॥ एष निर्यातितः श्रीमान्मया ते वारिसम्भवः।'**—(५। ४०। ७-८) इस भूषणको रामचन्द्रजी अच्छी तरह पहिचानते हैं। इसे देखकर वीर राम माताको, मुझको और राजा दशरथको अवश्य स्मरण करेंगे। इसे देखकर राघव समुत्साहित होंगे और तुमको प्रेरित करेंगे। पुनः सर्ग ६६ में श्रीरामजीने इसे पानेपर कहा है कि जनक महाराजने विवाहके समय इसे सीताजीको दिया था। यह समुद्रसे उत्पन्न हुआ। देवताओंद्वारा प्रशंसित है। इन्द्रने जनक महाराजपर यज्ञमें प्रसन्न होकर यह मणि उनको दिया! सीताजीके मस्तकपर बँधनेसे इसकी बड़ी शोभा होती थी। इसे देखकर मैंने अपने पिता और श्वसुरका दर्शन पाया है। आज उसे देखकर मैं सीताजीको ही आयी हुई समझता हूँ। यथा—**'मणिरत्नमिदं दत्तं वैदेह्याः श्वशुरेण मे। वधूकाले यथा बद्धमधिकं मूर्ध्नि शोभते॥ अयं हि जलसम्भूतो मणिः प्रवरपूजितः। यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता॥ इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं तथा तातस्य दर्शनम्। अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभो॥ अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः। अद्यास्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये॥'** (४—७) वाल्मीकिजीके मतानुसार श्रीजानकीजीने इसे बड़े यत्नसे अपने आँचलमें बाँधकर रखा था, इसका दर्शन करती थीं और आँचल खोलकर ही हनुमान्‌जीको यह चूडामणि दी थीं। यथा—**'ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम्।' 'मणिवरमुपगृह्य तं महार्हं जनकनृपात्मजया धृतं प्रभावात्॥'** (५। ३८। ६६, ७०) हनुमन्नाटकमें शिरसे ही निकालकर देना कहा है **"शिखां धूमशिखां शत्रोः कालव्यालवधूमिव। उद्यम्यास्य शिरोरत्नं संज्ञानं स्वामिनं ददौ॥'** (६। ३१) अर्थात् शत्रुको कालरूप सर्पकी स्त्रीके सदृश, धूमशिखाके तुल्य अपनी शिखाको खोलकर इस अपने सिरके रत्नको स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके लिये सहदानी दी। मानसकविका *'उतारि'* शब्द अध्यात्म और नाटकके मतसे मिलता है।

नोट—२—*'जनकराय तपसे एहि पाएउ मोहि सम याहि दुलारत। करहि रामचन्द्र जेहि परसत त्रिभुवन नहिं पारत॥ अपनो रूप जानि चूड़ामनि सिय कपि करमें डारत। इष्टदेव तेहि जान महाकपि दृगसे अँसुआ ढारत॥'*

टिप्पणी—२ *'चूड़ामनि उतारि तब दएऊ'।* (क) जैसे रघुनाथजीने अमूल्य, दिव्य आभूषण चिह्नके लिये दिया, वैसे ही इन्होंने अमूल्य दिव्य आभूषण दिया। (ख) *'उतारि'* अर्थात् सिरसे निकालकर। *'चूड़ामणि'* सिरोरत्न। (ग) श्रीरामजीने हाथका भूषण देकर जनाया कि हम तुम्हें हाथसे ग्रहण किये हैं, श्रीजानकीजीने सिरका भूषण देकर सूचित किया कि मैं अपना मस्तक आपके चरणोंपर रखती हूँ, मुझे दासी जानकर उबारिये। हाथका धर्म ग्रहण करना और मस्तकका नमित होना है। यथा—*'ते सिर कटु तुंबरि सम तूला। जे न नमत हरिगुरपदमूला'* और*'सीस नवहिं सुरगुरद्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥'* [नोट—चूडामणि क्यों दिया?' इसपर महानुभावोंने अनेक भाव लिये हैं। जैसे कि—(१) और कोई आभूषण पास न था जो देतीं। (पं०) (२) सिरोभूषण देकर जनाया कि मेरा सिर आपकी भेंट है, नजर है, अब जीवनकी आशा नहीं है। इस आशयमें सहायता-हेतु अत्यन्त आर्त्तता प्रकट हो रही है। (पं०)। (३) सिरके तुल्य सिरोभूषण भेजती हूँ, सशरीर सिर आपके निकट जाना आपके पराक्रमके अधीन है। (मा० त० सु०) (४)—हाथकी मुद्रिका भेजकर स्वामीने अपने हाथोंकी सहायताका संदेश ही मानो भेजा है, अतएव सिरोरत्न भेजकर महान् कृतज्ञतासहित आत्मसमर्पण जनाती हैं। (५)—वन्दनपाठकजी—चूडामणि देकर जनाया कि मैं दुःखसमुद्रमें केशपर्यन्त डूबी हूँ, शीघ्र उबारिये। मुद्रिका भेजकर जनाया कि तुमको न ले जाऊँ तो राज्यसे बाज आऊँ।

टिप्पणी—३—*'हरष समेत'* लिया यह जानकर कि ऐसी वस्तु लोकमें नहीं है और इसे पाकर रामजीको विश्वास होगा कि यह सीताजीका दिया है, वे बहुत प्रसन्न होंगे। (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जी चूड़ामणिको पाकर ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे पर्वतशिखरपर पवनके झोंकेसे मुक्त हुआ पुरुष प्रसन्न होता है। —**'गिरिवर पवनावधूतमुक्तः सुखितमनाः प्रतिसंक्रमं प्रपेदे॥'** (५। ३८। ७०) सुफलमनोरथ होनेसे हर्ष हुआ। अथवा, यह सोचकर कि मुद्रिका लानेसे मैं माता श्रीजानकीजीका कृपापात्र हुआ, उन्होंने दुर्लभ आशीर्वाद दिये; अब चूडामणि ले जाकर प्रभुको देनेसे मैं उनका भी विशेष कृपापात्र बनूँगा और आशीर्वाद पाऊँगा। इसे पाकर वे मुझे बहुत मानेंगे (जैसा कि श्रीजानकीजीने उनसे कहा है) यथा—**'अथ मामब्रवीत्सीता गृह्यतामयमुत्तमः। मणिर्येन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते॥'** (५। ५८। १०३) [वाल्मीकीयमें यह हनुमान्‌जीने वानरोंसे बताया है। यह तथा युगल सरकारोंकी परमकृपाका लाभ समझकर हर्षित हुए।]

कहेहु* तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरन कामा॥ ३॥
दीन दयालु बिरिद† संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥ ४॥‡

अर्थ—(तब श्रीसीताजीने कहा—) हे तात मेरा इस प्रकार प्रणाम कहना (प्रणामकी चेष्टा करके बताया। अर्थात् राम-लक्ष्मणका ध्यान करके, चरण पकड़कर प्रणाम किया—*'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना'* से यह भाव स्पष्ट है)। और ऐसा कहना कि हे प्रभो, यद्यपि आप सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं (अर्थात् आपको किसी बातकी इच्छा नहीं है, किसीसे कुछ चाहते नहीं, अतएव हमारे बिना आपको कुछ कमी नहीं है, पर)॥ ३॥ दीनदयाल आपका बाना है (मैं दीन हूँ); अतः उसे याद करके, हे मेरे नाथ! मेरे भारी संकटको दूर कीजिये॥ ४॥

नोट—१ *'अस'* इस अंगुल्यानिर्देशसे और अगले विनयसूचक पदोंसे यह भाव निकला कि श्रीकिशोरीजीने अति आर्त्ततापूर्वक गलेमें अञ्चल डाल, पृथ्वीपर अपना मस्तक झुका, स्वचरणादि स्पर्शकर और शीघ्रप्रसादिनी बद्धाञ्जलि आदि मुद्रा हनुमान्‌जीको दिखाकर कहा कि हे पुत्र! मेरी ओरसे ऐसी ही मुद्रा दिखाते हुए सन्देसा कहना।—पूर्णकाम हैं अर्थात् आप भावग्राहक हैं, हमारे भावको ग्रहण कीजिये। (पं०, मा० त० सु०) नोट—२-*'अस'* शब्द देकर यह भी जनाती हैं कि मेरी संदेसा ज्यों-का-त्यों कह देना। *'अस'* दीपदेहरी है।

* कहेउ—ब्र० चं०। † बिरिदु—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०, गी० प्रे०। बिरद—कोदोराम। बिरुद—रा० प०, १७०४ ना० प्र०। ‡ 'दीनदयालु···।' पायकुलक, 'हरहु नाथ····' द्रुतपा। (ब्र० चं०)

टिप्पणी—१—(क) 'पूर्णकाम' हैं, अर्थात् मुझसे आपका कोई स्वार्थ नहीं सिद्ध होगा पर बाना स्मरणकर क्लेश हरण कीजिये। *'प्रभु'* अर्थात् आप समर्थ हैं, आपकी प्रभुता रहते हुए भी मैं दुःखी रहूँ, यह उचित नहीं। सामर्थ्य न होता तब दुःख सहना ठीक था। (ख) *'सब प्रकार'* अर्थात् यावत् ऐश्वर्य, यावत् सद्‌गुण हैं सबसे पूर्णकाम हैं, कुछ एक दासियोंके सम्बन्धमें नहीं; पुनः आप सबके प्रभु हैं, ब्रह्मादिक आपके सेवक हैं, ऋद्धि-सिद्धि सब दासी हैं, समस्त ब्रह्माण्डोंके आप पति हैं, यथा—*'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥'*

टिप्पणी—२ (क) *'मम'* देहलीदीपक है। मेरे नाथ और मेरा संकट। तात्पर्य कि मुझपर दया करनेसे आपका बिरद रहता है, संकट दूर करनेसे यश रहता है, यथा—*'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन बेद जसु गावा॥'* (१। ५९) *'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ! आयो सरन। उपल-केवट-गीध-सबरी-संसृति-समन, सोक-श्रम-सीव सुग्रीव आरतिहरन॥ राम राजीवलोचन बिमोचन बिपति' 'दीन-हित बिरद पुराननि्ह गायो। आरत-बंधु, कृपालु, मृदुल-चित जानि सरन हौं आयो॥'* (गी० ५। ४३, ४४) *'संभारी'* से जनाया कि आपका 'दीनदयाल' बाना गिरनेको है, उसे सँभालिये। (ख) *'भारी'* अर्थात् जिन-जिन दीनोंका आपने सङ्कट हरा उन सबसे मेरा संकट भारी है। [पुनः भाव कि पूर्व जो-जो मेरे संकट आपने दूर किये, जैसे कि रंगभूमिमें धनुष तोड़कर संकट हरा, यथा—*'मन ही मन मनाव अकुलानी'''''। अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥'* (१। २५७। ८), *'देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥'* (१। २६१) उस समयका संकट थोड़ी देरका था और उन्हींके मनमें था; दूसरोंपर प्रकट न था और यह संकट सीताहरणसे बराबर चल रहा है, सालभरसे प्रत्येक निमेष कल्प-कल्प-समान बीत रहा है। इसे देखकर देखनेवालेको भी एक क्षण कल्प-समान बीतने लगता है। यथा—*'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।'* (५। ८), *'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥'* (५। १२), इत्यादि; फिर वनमें विराध, कबन्ध, शूर्पणखा आदिद्वारा जो संकट उपस्थित हुए, वे दूर किये।); उनसे यह *'भारी'* है। भारीका स्वरूप गीतावली पद १७-१८ में तथा आगे दोहा ३०-३१ में देखिये। मा० त० सु० का मत है कि *'भारी'* इससे कहा कि श्रीजनकपुरमें आपके मिलनेमें सन्देहरूपी वियोग-दुःख था, वह वियोग दैवाधीन और पितृप्रतिज्ञाजन्य सुखमय था और उस समय मैं पिताके घरमें थी; और यह संकट कालाधीन और प्रबलशत्रुसङ्कल्पजन्य है, इस समय मैं आपकी विवाहिता स्त्री हूँ और शत्रुके घरमें हूँ।] (ग) जैसे कोई आर्त्त पहले कुछ भेंट देता है, पैरों पड़ता है तब अपना दुःख छुड़ानेकी प्रार्थना करता है, उसी रीतिसे गोसाईंजी सीताजीमें यह सब बातें क्रमसे दिखाते हैं। *'चूड़ामनि उतारि तब दएऊ'* यह भेंट है, *'कहेहु तात अस मोर प्रनामा'* यह पाँव पड़ना है और *'हरहु नाथ मम संकट'* यह दुःख-निवेदन है।

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बानप्रताप प्रभुहि समुझाएहु॥ ५॥
मास दिवस महुँ नाथ न आवा*। तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा॥ ६॥†

अर्थ—हे तात! इन्द्रके पुत्र जयन्तकी कथा सुनाना और बाणका प्रताप (कहकर) प्रभुको समझाना॥ ५॥ यदि महीनेभरमें नाथ न आये तो फिर मुझे जीवित न पावेंगे (क्योंकि यह रावणकी प्रतिज्ञा है कि महीनेभरमें कहना न माना तो सिर काट लूँगा। वा, उसके हाथसे वध होनेके पहले ही मैं शरीर छोड़ दूँगी)॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सक्रसुत कथा'* यह केवल श्रीरामजानकीजी जानते हैं और कोई नहीं जानता, इसीसे यह भी चिह्न दिया।—['शक्रसुतकथा' से उस समयका ऐकान्तिक गुप्त रहस्य लक्षित कराया है जो अरण्यकाण्डमें लिखा गया है। श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे। यह एकान्तकी बात थी। उसी समय शक्रसुत जयन्त परीक्षाके लिये आया था। इस एकान्त रहस्यको कोई न जानता

* 'आवै पावै'—१७६२, कोदवराम।

† ब्र० चं०—'तात०' ११२५ वाँ 'बान''' १२११ वाँ भेद (६—८) पायकुलक।

था। केवल बलकी परीक्षाकी चाहसे जयन्तका वहाँ जाना और बाणप्रतापका हाल मन्दोदरी आदि भी जानती थीं, यथा—*'सुरपति सुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा॥'* (६। ६५)—कथा अरण्यकाण्ड दोहा १ व २ में देखिये। *'सक्रसुत'* से जनाया कि उसने इन्द्रके समान करतूत की थी। छली, कुचाली, मलीन और किसीपर विश्वास न रखनेवाला था। यथा—*'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'* (२। ३०२), *'कपट कुचालि सींव सुरराजू।'* वह कौआ बनकर आया था। वाल्मीकीयमें यह कथा सर्ग ३८ श्लोक १२ से ३९ तक विस्तारसे है। शक्रसुतकथाको वहाँ श्रीसीताजीने सर्वश्रेष्ठ चिह्न कहा है-**'इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम्।'** (५। ३८। १२), ☞ शक्रसुतकथासे ही मनसिलके तिलक लगानेवाली गुप्त बात भी सूचित की है; **'मनः शिलायास्तिलको गण्डयोश्च निवेशितः॥ त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि।'** (५। ६५। २४) तथा—*'सिय अँग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग, तिलक-करनि का कहौं कलानिधानकी। माधुरी हास-बिलास'''' ॥'* (गी० २। ४४), **'मनः शिलायास्तिलकं तथा मे गण्डस्थले पाणितलेन मृष्टम्। स्मरेति संज्ञानमपि प्रयच्छ जीवाम्यतो राघव मासमात्रम्॥'** (हनु० ६। ३३) अर्थात् जब मनशिलाका तिलक मेरे कपोलस्थलमें हाथके रखनेसे छूट गया था, उस समयके पहचानको याद कीजिये—यह मेरा चिह्न तुम लेकर जाओ।]

टिप्पणी—२—*'कथा सुनाएहु। बान प्रताप समुझाएहु'* अर्थात् कहना कि मेरे लिये थोड़ेसे अपराधपर भी उनको भारी दंड दिया, अर्थात् थोड़े संकटमें भारी पुरुषार्थ किया था अब तो मैं भारी संकटमें हूँ। (यथा—**'मत्कृते काकमात्रेऽपि ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्। कस्माद्यो माहरत् त्वन्तः क्षमसे तं महीपते॥'** (वाल्मी० ५। ३८। ३९) अर्थात् मेरा छोटा-सा अपराध करनेपर आपने एक कौए मात्रपर ब्रह्मास्त्र चलाया था तब जिसने मुझे चोरीसे हर लिया ऐसे महान् अपराधीको क्यों क्षमा कर रहे हैं? उसपर अपना अति प्रबल उत्साह दिखाइये।) अथवा, शक्रसुतकथाके भीतर बाणप्रताप है, उसे समझाना कि जयन्तपर सींकका बाण छोड़ा तब उसको तीनों लोकोंमें कोई न रख सका।—[*'बाण-प्रताप'* यह कि आपके एक कुशके बाणमें जब यह शक्ति है कि त्रैलोक्यमें समस्त दिशा-विदिशाओंमें, सुर-नर-मुनि, असुर, सुरराज एवं त्रिदेव भी इन्द्रपुत्रको शरण न दे सके, यथा—**'त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह॥ स पित्रा च परित्यक्तः सर्वैश्च परमर्षिभिः। त्रीँल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः॥'** (वाल्मी० ५। ३८। ३१-३२); *'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका।''''काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥'* (३। २); तब आपके दिव्यास्त्रोंके प्रभावका तो कहना ही क्या? समझाना यह कि आप इस प्रकारके अस्त्रोंके जाननेवाले, महाबलवान् पराक्रमी और शीलवान् होकर भी राक्षसोंपर उन अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं करते? यथा—**'एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्छीलवानपि॥ किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयति राघव।'** (वाल्मी० ५। ६७। १८-१९) पुनः भाव कि किंचित् अपराधपर पाँचमुखवाले सर्पके समान क्रोध आया था कि शरण आनेपर भी उसकी एक आँख ले ही ली थी; यथा—*'आशीविष इव क्रुद्धः '''' ॥', 'कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना॥'* (वाल्मी० ५। ३८। २४-२५) तब रावण-ऐसे अपराधीपर वह क्रोध क्यों नहीं प्रकट करते?] पुनः भाव कि निशानीके लिये कथा सुनाना और उनको यहाँ लानेके लिये बाणप्रताप समझाना। पुनः समझानेको इससे कहा कि हनुमान्‌जीने यह कहा था कि *'तुव बियोग-संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबानकी।'* (गी० ५। ११); अथवा इससे समझानेको कहा कि प्रभु अपने पुरुषार्थके अभिमानी नहीं हैं। [अथवा, शक्रसुतकथा सुनानेका यह प्रयोजन है कि रावणवधमें वे इस बातकी शंका न करें कि वह ब्रह्मवीर्य है। क्योंकि जयन्त भी तो देवता था। (मा० शं०)]

टिप्पणी—३—*'मास दिवस महुँ नाथ न आवा।'''' '* इति। (क) भाव यह कि रावणने एक मासकी प्रतिज्ञा की है और मैं तो अब भी प्राण नहीं रख सकती, यथा—*'कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना।'* (ख) मासके साथ 'दिवस' पद देनेका भाव कि मासकी अवधि बीचमें भी रहती है। सौर मास संक्रान्तिपर समाप्त होता है और चान्द्रमास पूर्णिमापर और कहीं-कहीं अमावास्यापर मासकी पूर्त्ति होती है। भ्रम न

हों, इस विचारसे 'दिवस' शब्द भी साथ दिया। मास-दिवस=मासके तीस दिन। गिनकर=जिस दिन कहा है उससे तीस दिन गिनकर। अर्थात् पूरे दिन गिननेके निमित्त यह पद दिया। अथवा, मासदिन वर्षदिन यह बोली है यथा—*'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी।'*

टिप्पणी—४ यहाँ *'आवा, पावा'* हलका पद एकवचन देनेका भाव यह है कि एक मासके भीतर यदि न आवेंगे तो 'गुरुता' कहाँ रह जायगी, रावण मारेगा तो बड़ी ही 'हलकाई' (अप्रतिष्ठा) हो जायगी। यही सूचित करनेके लिये एकवचन-पद दिया।

टिप्पणी—५ *'तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा'* इति।—यहाँ यह नहीं कहतीं कि रावण हमको मार डालेगा, केवल यही कहा है कि हमको जीवित न पायँगे।

नोट—१ ऐसा ही वाल्मीकीयमें भी है, यथा—'**जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज॥ ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते।**' (५। ३८। ६४-६५) अर्थात् मैं सत्य कहती हूँ कि एक मास बीतनेपर मैं जीवित न बचूँगी। पुनश्च '**धारयिष्यामि मासं तु जीवितं शत्रुसूदन। मासादूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज॥**' (५। ४०। १०) में जो कहा है कि एक मासतक मैं आपकी राह देखती रहूँगी, इतनेमें दर्शन न हुए तो मैं प्राण त्याग दूँगी, वही भाव इस चरणमें है। रावणके हाथ मारा जाना स्वीकार नहीं है यथा—'**रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया॥**' (५। ६५। १५) हनुमद्वाक्य श्रीरामप्रति)। उन्होंने कहा है कि मैं रावणकी सूरत देखना नहीं चाहती। यदि आपके आनेमें विलंब मैंने सुना तो एक क्षण न जिऊँगी। —'**त्वां च श्रुत्वा विषज्जन्तं न जीवेयमपि क्षणम्।**' (५। ४०। ११)

नोट-२—*'नाथ न आवा'* कहकर *'जियत नहिं पावा'* कहनेका भाव कि आप ऐसे नाथके रहते हुए मैं अनाथिनी-सी हो रही हूँ। एक मास बीतनेपर मैं अनाथिनीकी तरह मर जाऊँगी फिर आप मुझे न देख पावेंगे। यथा—'**न मां द्रक्ष्यति काकुत्स्थो म्रिये साहमनाथवत्॥**' (वाल्मी० ५। ५८। १०८) (यह जाम्बवानादिसे हनुमान्‌जीने बताया है।)

नोट ३—*'तौ पुनि'* का भाव कि अबकी बार तो उनके भेजे तुमने मुझे जीवित पा लिया, पर यदि विलंबसे नाथ आये तो अब दूसरी बार जीवित न पायेंगे। क्योंकि रावण कह चुका है (और तुमने सुना भी है) कि *'मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना॥'* हनुमान्‌जीने स्वयं कानोंसे सुना है यह बात उन्होंने श्रीसीताजीसे कही है। यथा—*'मैं सुनी बातें असैली, जे कही निसिचर नीच। क्यों न मारै गाल, बैठो काल-डाढ़नि बीच॥'* (गी० ५। ६)

मा० त० सु०—*'पुनि'* का भाव कि जैसे जनकपुर जाकर मेरा प्राणान्त कष्ट देखकर धनुषको खण्डित करके मुझे जीवित पा लिया था, (यथा—*'देखी बिपुल बिकल बैदेही।'''तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुये करै का सुधा तड़ागा॥ अस जिय जानि जानकी देखी।*) वैसे ही यदि एक मासके भीतर न आवें तो फिर मुझे जीवित न पावेंगे।

कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना॥ ७॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती। पुनि मो कहुँ* सो दिन सो राती॥ ८॥

अर्थ—हे कपि! कहो तो मैं किस प्रकार प्राण रखूँ? हे तात! तुम भी तो अब जानेको कहते हो (अर्थात् महीनेभरके बाद तो मरनेका ठिकाना हुआ, पर महीनेके भीतर किस आधारसे प्राण रखूँ? तात्पर्य कि तुम्हारा बिछुड़ना प्राण हरनेवाला है; यथा—*'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।'* (१। ५। ७) तुझे देखकर छाती ठंढी हुई थी, फिर मुझको वही (दु:खके) दिन और वही (दु:खकी) रातें (हैं)!॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना'* इति। श्रीसीताजी हनुमान्‌जीसे तीन बातें कह रही

---

* 'मोकहुँ सोइ दिन सोइ राती' (का० ना० प्र०)। 'मोकहु सो दिन सों राती'—(भा० दा०। पहले 'सोइ दिन' और 'कहुँ' था पीछे 'इ' और अनुस्वारपर हरताल लगाया है।) 'मो कहुँ सोइ दिन सो राती।' (गी० प्रे०)

हैं। (क) नाथका वियोग *'मास दिवस महुँ नाथ न आवा'।* (ख) तुम्हारा बिछुड़न—*'तुम्हहू तात कहत अब जाना'।* और, (ग) रातदिन राक्षसोंकी साँसति—*'पुनि मो कहुँ सो दिन सो राती॥'* किस प्रकार प्राण रखूँ, तुम तो बुद्धिमान् हो, तुम ही विचारकर बताओ। कोई उपाय सम्भव समझते हो? भाव कि अब कौन अवलंब रह जायगा? पहले भी न था, तब तुम आकर अवलंब हो गये थे; यथा—*'बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मोकहुँ जलजाना॥'* वह अवलंब फिर न रहनेसे कैसे प्राणकी रक्षा हो सकेगी?

टिप्पणी—२ (क) *'सीतलि भइ छाती'* इति। भाव यह कि रामदर्शन बिना छाती जल रही थी, तुझे देखकर शीतल हुई। ऐसा ही श्रीभरतजीने भी श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है, यथा—*'कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥'*

☞ इससे जनाया कि श्रीहनुमान्‌जीके आगमनसे उनको श्रीरामजीके दर्शनके समान सुख प्राप्त हुआ था। (ख) *'सो दिन सो राती'* अर्थात् जो तुमने देखा है, यथा—*'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥'* पुनः, इसमें व्यंग यह है कि तुम्हारे दर्शनके बाद फिर हमको दुःखके दिन क्या आने चाहिये? आशय यह कि हमारे क्लेशको भूल न जाना, तुरंत उसके हरणका उपाय करना।

नोख—१ वाल्मीकीयमें लिखा है कि श्रीहनुमान्‌जीको तैयार खड़े देखकर कहा कि 'यदि ठीक समझो तो एक दिन और यहीं कहीं किसी गुप्त स्थानमें ठहर जाओ। विश्राम करके कल चले जाना। क्योंकि तुम्हारे मेरे पास रहनेसे मेरा अपार दुःख कुछ देरके लिये अवश्य घट जायगा। तुम्हारे यहाँसे लौट जानेपर और पुनः यहाँ आनेके समयतक मुझे सन्देह है कि मैं जीती रहूँ या न रहूँ। तुम्हारे न देखनेका शोक भी मुझे संतप्त करेगा, दुःख मुझे भस्म ही कर डालेगा। यथा—**'ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः।''''यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिन्दम। कस्मिंश्चित्संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि॥ मम चैवाल्पभाग्यायाः सांनिध्यात्तव वानर। अस्य शोकस्य महतो मुहूर्तं मोक्षणं भवेत्॥ ततो हि हरिशार्दूल पुनरागमनाय तु। प्राणानामपि सन्देहो मम स्यान्नात्र संशयः॥ तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत्। दुःखाद्दुःखपरामृष्टां दीपयन्निव वानर॥'** (५। ३९। १९-२३) और अध्यात्ममें भी कहा है कि तुम्हें देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी थी, तुम्हारे जानेपर अब श्रीरामवार्ता सुने बिना मैं कैसे रहूँगी? २७ (१) टि० १ देखिये।

नोट-२—*'केहि बिधि''''राती।'* से जनाते हैं कि हनुमान्‌जीके चलनेकी तैयारी समझकर श्रीसीताजी बहुत घबड़ा गयीं। यथा—**'ममोत्पतनसम्भ्रान्ता शोकवेगसमाहता॥' 'अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पगद्गदभाषिणी॥'** (वाल्मी० ५। ६७। ३४, ३३) अर्थात् चलनेको तैयार देख वे घबड़ा गयीं, आँखोंमें आँसू भर लायीं और उनका कण्ठ गद्‌गद हो गया। यह चौपाईके भाव कवितावलीसे भी स्पष्ट हो जाते हैं, यथा—*'कहा कहौं तात! देखे जात ज्यों बिहात दिन, बड़ी अवलंब ही, सो चले तुम तोरि कै। 'तुलसी' सनीर नैन नेहसो सिथिल बैन, बिकल बिलोकि कपि कहत निहोरि कै॥'* (५। २६) इसीसे आगे *'बहु बिधि'* समझाना कहा है। २७ (१) टिप्पणी और दोहा २७ देखिये।

नोट-३—गर्गसंहितामें राधिकाजीके ऐसे ही वचन *('तोहि देखि''''')* हैं। वहाँ उन्होंने इसी प्रसंगका दृष्टान्त दिया है—'**दृष्ट्वा क्षणं त्वां मम हृच्च शीतलं जातं प्रसन्नाऽस्मि समागते त्वयि। यथा प्रसन्ना जनकात्मजा पुरा लंकापुरे वायुसुते समागते।**' (मथुरा खण्ड अ० ५ श्लोक ११)

दो०—जनकसुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह।
चरनकमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह॥ २७॥*

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने श्रीजानकीजीको समझाकर बहुत तरहसे धीरज दिया और उनके श्रीचरण-कमलोंमें सिर नवाकर हनुमान्‌जी श्रीरामजीके पास चले॥ २७॥

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीके चलनेके समय सीताजी बहुत विरहाकुल हो गयीं, उनका हृदय भर आया, इत्यादि;

* यह शार्दूल दोहा है। (व्र० चं०)

यथा—'*कपिके चलत सियको मनु गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो॥ कहन चह्यो सँदेस, नहि कह्यो, पियके जिय की जानि हृदय दुसह दुख दुरायो। देखि दसा ब्याकुल हरीस*·····' (गी० ५। १५) अतएव समझाया। पुनः श्रीजानकीजी धैर्य छोड़कर बोलीं कि '*मास दिवस महँ*·····*केहि बिधि राखौं प्राना*' इससे '*बहु बिधि धीरज दीन्ह।*' और इसीसे ग्रन्थकारने भी बहुत बार लिखा। (१५। ९) '*कह कपि हृदय धीर धरु माता*' से '*तिहुँ पुर नारदादि जसु गइहहिं*' (१६। ५) तक समझाना पूर्व लिखा गया है। वही यहाँ है।

नोट—१ '*बहु बिधि*'—वानर-भालु-सहित श्रीरामलक्ष्मणजी तुरंत आवेंगे, शत्रुको जीतकर आपको ले जायँगे। त्रैलोक्यमें सुर, असुर, मनुष्यादि सबका मिलकर भी यह सामर्थ्य नहीं कि रामबाणके आगे ठहर सकें। वे आपके लिये यम, काल आदिसे भी युद्ध कर सकते हैं। सुग्रीवने आपके उद्धारके लिये अग्निको साक्षी देकर प्रतिज्ञा की है। महापराक्रमी, मानसिक संकल्पके साथ ही काममें लगनेवाले, वायुके मार्गमें चलनेवाले मुझसे कहीं अधिक बलवाले असंख्यों वानरोंको लेकर सुग्रीव साथ आवेंगे। सुग्रीवकी सेनामें मुझसे छोटा कोई नहीं है, सब एक छलाँगमें लंका आ पहुँचेंगे। मेरी पीठपर श्रीराम-लक्ष्मणजी आयेंगे। आप धैर्य धारण करें। श्रीरामजीसे बड़ा कौन है? लक्ष्मणजीके समान कौन है? वे दोनों आपके रक्षक हैं। इत्यादि जो वाल्मी० ५ सर्ग ३९, ४० और ५६ एवं ६८ में कहा है वह सब '*बहु बिधि*' में आ गया। और भी जिसमें जिस प्रकार लिखा हो उस सबका समावेश इसमें हो गया।

नोट-२ पुनः यथा—'*तौ लौं मातु! आपु नीके रहिबो। जौलौं हौं ल्यावौं रघुबीरहिं, दिन दस और दुसह दुख सहिबो। सोखिकै खेतकै बाँधि सेतु करि उतरिबो उदधि, न बोहित चहिबो। प्रबल दनुज-दल दलि पल आधमें, जीवत दुरित दसानन गहिबो॥ बैरिबृंद-बिधवा बनितनिको देखिबो बारि-बिलोचन बहिबो। सानुज सेनसमेत स्वामिपद निरखि परम मुद मंगल लहिबो॥ लंका-दाह उर आनि मानिबो साँचु-रामसेवकको कहिबो। तुलसी प्रभु सुर सुजस गाइहैं, मिटि जैहैं सबको सोचु दव दहिबो॥*' (गी० ५। १४) पुनः यथा—'*मातु! काहेको कहति अति बचन दीन? तबकी तुही जानति, अबकी हौं ही कहत, सबके जियकी जानत प्रभु प्रबीन॥ ऐसे तो सोचहिं न्याय-निठुर नायक-रत सलभ, खग, कुरंग, कमल, मीन* (गी० ५। ८) पुनः यथा—'*दिवस छः -सात जात जानबे न, मातु! धरु धीर, अरि-अंतकी अवधि रही थोरिकै। बारिधि बँधाइ सेतु ऐहैं भानुकुलकेतु सानुज कुसल कपिकटकु बटोरि कै। बचन बिनीत कहि, सीताको प्रबोधु करि*·····' (कवि० ५। २७)

वि० त्रि—जानकीजीको समझाकर बहुत प्रकारसे धैर्य दिया; यथा—'*अब मोहि यहँ ते चलनमें होइहि बेर जितेक। प्रभु प्रयानमें जानबी जननी देर तितेक॥ तोहि खोजन हित कपि कटक गयउ चहूँ दिसि धाय। सीता सुधि पायो नहीं कहे होयँगे आय॥ दक्षिण दिसि जे कपि गये तिनपर आस लगाय। बाट जोहते होयँगे अति आरत रघुराय। समाचार तेरो सुनत प्रभुको धीरज होय। घटै पीर रघुबीर हिय उचित करन अब सोय॥ मेरो लंक प्रवेश कोउ सके न निशिचर जानि। ताते मम गतिबिधि समुझि रहिहैं ते भय मानि॥ लंक शंक आतंक अति दसकंधर उर माहिं। अब तोको दुख देन हित कोउ आइहै नाहिं। यामें मोहि अब एक छन जनि रोके तू माय। जाइ बेगि रघुबीर को आवौं तुरत लवाय॥*'

नोट—३ ☞ बाबा हरिदासजीने '*बहु बिधि*' के कई भाव लिखे हैं जो माधुर्य प्रसंगके अनुकूल नहीं हैं। एक प्रकार यह कि—'आप 'जनक' की सुता हैं, केवल पिताके मिष प्रकट हुई हैं, मातारहित हैं, गर्भवासरूपी विधिबन्धनसे रहित अगर्भा हैं; आपका जन्म अलौकिक हुआ, आप पृथ्वी फोड़कर प्रकट हुई हैं; आप जीवोंके मंगल-कल्याणके लिये उन्हें भवबन्धनसे छुड़ानेके लिये अवतरी हैं, आप परमशक्ति हैं तब आपका तुच्छ रावणके बन्धनमें पड़ा होना कैसे घटित हो सके?—यह 'जनकसुता' का भाव है।' अन्य भाव क्लिष्ट कल्पनाएँ जानकर नहीं लिखता। पुनः, '*जनकसुतहि*·····' का भाव कि आप जनक-ऐसे धीर योगीकी कन्या हैं, आपको ऐसा अधीर होना उचित नहीं। (पं०)

नोट—४ '*गमन राम पहिं कीन्ह*'। भाव कि तन यहाँ है और मन श्रीराघवजीके निकट पहुँच गया। (मा० त० सु०) यथा—'हृदयेन गतो रामं शरीरेण तु निष्ठितः।' (वाल्मी० ५। ३८। ७२)

टिप्पणी—२ *'चरनकमल सिरु नाइ कपि गवनु·····'* इति। यहाँ श्रीहनुमान्‌जीका प्रणाम तो कहा पर उनको श्रीसीताजीका आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया। क्योंकि बिछुड़नसे वे शिथिल हो गयी थीं। (दोहा २७—८ नोट २ देखिये।) उनके मुखसे वचन नहीं निकला पर उन्होंने हनुमान्‌जीको मन-ही-मन आशीर्वाद दिया, यथा—*'कपिके चलत सियको मनु गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो॥·····कै प्रबोध मातु-प्रीतिसों असीस दीन्हीं ह्वैहै तिहारोई मन भायो॥'* (गी० सु० १५) [वाल्मीकीयमें आशीर्वाद देना कहा गया है, यथा—**'शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर॥'** (५। ४०। २४) अर्थात् तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न हो। परंतु लंकादहनके पश्चात् चलते समय श्रीहनुमान्‌जीका प्रणाममात्र है—**'गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत्॥'** (५। ५६। २२) आशीर्वाद नहीं है। हनु० नाटकमें भी प्रणाम भर है। यथा—**'नत्वा पादारविन्दद्वयमपि जनकस्यात्मजाया हनूमान्। पाणिभ्यामङ्घ्रियुग्मम्······'** (६। २४) अर्थात् श्रीजनकसुताके दोनों चरणकमलोंको प्रणाम करके दोनों हाथोंसे उनके चरणोंको छूकर। गीतावलीके उद्धरणमें आसिष देना कहा है पर 'मन' शब्द अपनी ओरसे ही लगाया गया है]।

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्त्रवहिं* सुनि निसिचर नारी॥१॥†

अर्थ—चलते समय श्रीहनुमान्‌जीने महाध्वनिसे भारी गर्जन किया, जिसे सुनकर निशाचरोंकी स्त्रियोंके गर्भ गिर जायँ॥१॥

टिप्पणी—१ (क) *'भारी'* गर्जनासे अपनी उपस्थिति प्रसिद्ध की और श्रीसीताजीका भय नाश किया। श्रीजानकीजीने जो कहा था कि मुझको फिर वैसे ही दिन और वैसे ही रातें बीतेंगी, राक्षस रात-दिन दुःख देंगे; उसीपर हनुमान्‌जीने गर्जकर धीरज दिया कि निर्भय रहिये; अब राक्षस आपके पास न आवेंगे। यथा—*'हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे'॥* अथवा, (ख) भारी गर्जनासे जनाया कि लंका जलाकर हम चले नहीं गये, अभी हम बैठे हैं। तात्पर्य यह कि कोई यह न समझे कि चोरीसे चला गया। बाग उजाड़ा, राक्षसोंको मारा, उसकी सजा मिली कि 'बाँधा गया', जलाया गया, जो चोरीसे चला न जाता तो लंका जलानेकी सजा पाता। गर्जनद्वारा रावणको चुनौती देते हैं कि लंका-दहनका बदला चुका सकते हो तो चुका लो, नहीं तो मैं सफलमनोरथ होकर अब जाता हूँ। यदि कुछ कर सकते हो तो कर लो। (पं०) अथवा, (ग) हनुमान्‌जीने सब काम गर्ज-गर्जकर किये; इसीसे चलते समय भी गर्जे। यथा—*'तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना'*।—(१) *'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'*—(२) *'कटकटाइ गर्जा अरु धावा'*—(३)। *'अट्टहास करि गर्जा*—(४)। तथा यहाँ *'चलत महाधुनि गर्जेसि'* (५)। अथवा, (घ) शरीरके बलसे करोड़ों राक्षसोंको मारा और महाध्वनिसे अब गरजकर निशाचरवंशकी वृद्धि रोक दी। (ङ) प्रथम भी तो महाध्वनिसे गर्जे थे, तब गर्भका गिरना नहीं कहा गया? इसका समाधान कविके शब्दोंमें ही है। पूर्व केवल एक शब्द 'महाधुनि' ही गर्जनका विशेषण है—*'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'।* और यहाँ गर्जनके साथ दो विशेषण दिये हैं—*'महाधुनि'* और *'भारी।'* महाध्वनिकी गर्जनसे गर्भ न गिरे थे और अब गर्भ गिरना तथा आगेके लिये गर्भाधानकी स्थितिको रोकना अभिप्रेत है; इससे 'भारी महाध्वनि' से गर्जे। जैसे यहाँ *'भारी'* विशेषण अधिक, वैसे ही *'गर्भ स्त्रवहिं'* यह कार्य अधिक है। अथवा, शब्दमें कुछ और कारण कर दिया हो जिससे गर्भ गिर गये।

नोट—१ गर्जन वही है जो पूर्व १८ (५) में लिखा गया-*'जयत्यतिबलो रामो·····अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्।'* (वाल्मी० ५। ४२। ३३-३६) कवितावलीमें इस प्रकार है—*''बचन बिनीत कहि, सीताको प्रबोधु करि, 'तुलसी' त्रिकूट चढ़ि कहत डफोरि कै। 'जै जै जानकीस दससीस-करि-केसरी', कपीसु कूद्यो बात-घात उदधि हलोरि कै॥'* (५। २७)

* स्त्रवहिं सुनि निसिचर—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा० छ०। स्त्रवहिं रजनीचर—कोदवराम।

† 'चलत···' तामरस, 'गर्भ·····' पायकुलक। (ब्र० चं०)

मा० त० सु० कार लिखते हैं कि *'गर्भ स्त्रवहिं'* से ग्रन्थकारने हनुमान्‌जीके बलकी पराकाष्ठा दिखायी। इस गर्जनद्वारा समस्त लंकानिवासियोंको भयभीत करते हुए भविष्यके लिये उनके हृदयमें इन्होंने चिन्ता उत्पन्न कर दी। रा० शं० व्यासका मत है कि गर्जनका कारण यह है कि महावीरजीने सोचा कि प्रभुकी प्रतिज्ञा है कि *'निसिचर हीन करउँ महि।'* जो युद्धमें जायँगे, उन्हें तो वे अवश्य मारेंगे; पर उनके मरनेपर जो गर्भ उनकी स्त्रियोंके हैं, उनसे फिर राक्षस पैदा होंगे तो प्रतिज्ञा पूर्ण न होगी। अतः गर्भोंका प्रथम ही नाश किया।

नोट—२ यहाँ *'स्त्रवहिं'* वर्तमान कालकी क्रिया देकर जनाया कि जो थे वे गिर गये और गिरते जाते हैं, आगे चले जानेपर भी इसका प्रभाव पड़ेगा, यथा—*'समुझत जासु दूत कै करनी। स्त्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥'* (५। ३६, मन्दोदरीवाक्य रावणप्रति)

वि० त्रि०—रुद्रावतार हनुमान्‌जीने रावणके किये हुए प्रायः सभी महा-अनर्थोंका बदला चुकाकर दण्ड दिया। *'चलत दसानन डोलत अवनी। गर्जत गर्भ स्त्रवहिं सुररवनी॥'* सो ये चलते समय ऐसे गर्जे कि निशाचरियोंका गर्भस्राव होने लगा। रावणने जिस-जिस देशमें गो-ब्राह्मणको पाया, उस नगर, ग्राम और पुरको जला दिया, यहाँ बदलेमें *'उलट पलटि लंका कपि जारी।'* सीताजीको *'क्रोधवंत पुनि रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ'* तो इधर *'धरि केस नारि निकारि बाहिर तेऽति दीन पुकारहीं'*, इत्यादि।

नाघि सिंधु एहि पारहिं आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा॥ २॥
हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना॥ ३॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा॥ ४॥*

अर्थ—समुद्र लाँघकर श्रीहनुमान्‌जी इस पार आये और किलकिला शब्द वानरोंको सुनाया। (किलकिल शब्द वानरोंकी आनन्दसूचक हर्षध्वनि है। इसे किया जिसमें सब वानर जान लें कि रामकार्य कर लाये) ॥ २॥ श्रीहनुमान्‌जीको देखकर सब हर्षित हुए और तब वानरोंने अपना नया जन्म समझा॥ ३॥ श्रीहनुमान्‌जीका मुख प्रसन्न है, तनमें तेज विराजमान है। (इसीसे जाना कि) श्रीरामचन्द्रका कार्य किया है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'नाघि सिंधु एहि पारहिं आवा। सबद·····'* इति। (क) महाध्वनिसे गर्जकर निशाचरियोंके गर्भ गिराये और किलकारीसे वानरोंको जिलाया, यथा—*'गगन निहारि, किलकारी भारी सुनि, हनुमान पहिचानि भए सानँद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाजु मानो, आजु जाए जानि सब अंकमाल देत हैं॥'* (क० ५। २९) *'एहि पारहि आवा'* से जनाया कि शब्द न पहुँचा और हनुमान्‌जी पहुँच गये। इसने उनका भारी वेग दिखाया, यथा—*'मारुतनंदन मारुतको, मनको, खगराजको बेगु लजायो॥'* (क० लं० ५३) यह वेग द्रोणाचल लानेके समयका है जिसका उदाहरण दिया गया। उस समय कालनेमिद्वारा विघ्न उपस्थित हुआ और श्रीअवधमें श्रीभरतके बाणकी महिमाका प्रभाव भी पड़ा था तब यह वेग था कि आपके वेगसे पवनदेव, गरुड़ एवं मन भी लज्जित हो गये थे और इस समय तो मार्ग साफ है, कोई विघ्न करनेवाला नहीं है, अतः इस समय उससे भी अधिक वेगसे उड़कर इस पार पहुँचे हैं। जैसे तोपका गोला पहले पहुँचता है और शब्द पीछे होता है वैसे ही यहाँ जानिये।—यह बात अगली अर्धाली *'हरषे सब बिलोकि हनुमाना'* से सिद्ध होती है; उसमें शब्द सुनकर हर्षित होना नहीं लिखते किन्तु श्रीहनुमान्‌जीको देखकर हर्षित होना कहते हैं।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब हनुमान्‌जीको उत्तरतटवर्ती महेन्द्रपर्वत कुछ ही दूर रहा देख पड़ा तब वे बड़े जोरसे गर्जे। उनका वह सिंहनाद समस्त दिशाओंमें प्रतिध्वनित हुआ। गरजते हुए वे उत्तर तटपर जा पहुँचे। रीछ-वानर जो उनके लौटनेकी प्रतीक्षामें बैठे थे, उन्होंने गर्जनका घोष सुना। सुनकर सब प्रसन्न हुए। हनुमान्‌जी गर्जे और उन वानरोंने आकाशमें उन्हें चले आते हुए देखा। यथा—'**स किंचिदारात्संप्राप्तः**

* नाँघि·····' स्वागता, 'सबद·····', (३), पायकुलक। 'मुख·····' द्रुतपा। 'कीन्हेसि·····' पायकुलकः (ब्र० चं०)।

समालोक्य महागिरिम्॥ महेन्द्रं मेघसंकाशं ननाद स महाकपिः। स पूरयामास कपिर्दिशो दश समन्ततः॥ नदन्नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः। स तं देशमनुप्राप्तः सुहृद्दर्शनलालसः॥' पूर्वं संविष्ठिताः शूरा वायुपुत्रदिदृक्षवः।'''शुश्रुवुस्ते तदा घोषमूरुवेगं हनूमतः॥'; '''''एवं जगर्ज बलवान्हनूमान्मारुतात्मजः॥ तमभ्रघनसङ्काशमापतन्तं महाकपिम्।' (वाल्मी० ५। ५७। १४—१६, १९, २४, १७-२८) अध्यात्मरामायणमें भी प्रथम सिंहनाद सुनना है, साथ ही तुरत हनुमान्‌जीका दर्शन हुआ।—जैसे वाल्मीकीयमें **'स तं देशमनुप्राप्तः'** वैसे ही यहाँ ***'एहि पारहिं आवा'***, जैसे—***'शुश्रुवुस्ते''''निशम्य हरयः'*** वैसे ही यहाँ ***'कपिन्ह सुनावा'***, जैसे ***'आपतन्तं''''*** 'वैसे ही ***'बिलोकि'***। ***'सुनावा'*** से यह भाव ले सकते हैं कि वानरोंने इसे सुना, सुनते ही आकाशकी ओर दृष्टि डाली तो हनुमान्‌जी भी देख पड़े। दोनों कार्य ताबड़तोड़ तले-ऊपर हुए, इसीसे ***'हरषे सब बिलोकि'*** कहा। कवितावलीके उपर्युक्त उद्धरणसे भी ऐसा ही जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ भी ***'किलकारी सुनि', 'हनूमान पहिचानि'*** है अर्थात् उनके शब्दसे उनको पहचाना।—**'हनुमानेव पश्यध्वं वानरा वानरर्षभम्।'** (अ० रा० ५। ५। १३) इस प्रकार प्राचीन रामायणोंके साथ समन्वय हो जाता है। सरल भाव यही है कि सुनकर उस ओर देखा कि स्वयं हनुमान्‌जी देख पड़े।

नोट—२ ***'हरषे सब'*** इति। वृक्षोंकी डालियोंको हाथमें ले कपड़ेकी तरह हिला रहे थे। श्रीहनुमान्‌जीको देखकर सब वानर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गये और आ जानेपर वे फलों और फूलोंकी भेंटे ला-लाकर उनका पूजन करने लगे। यथा—**वासांसि च प्रकाशानि समाविध्यन्त वानराः॥' '''''दृष्ट्वा ते वानराः सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा॥ '''''प्रहृष्टवदना सर्वे तमागतमुपागमन्। उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च॥ प्रत्यर्चयन्हरिश्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम्॥'** (वाल्मी० ५। ५७। २६, २८, ३२-३३) पुनः यथा—***'बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाजु, मानो आजु जाए जानि सब अंकमाल देत हैं॥' 'जै जै जानकीस, जै जै लखन-कपीस' कहि, कूदैं कपि कौतुकी नटत रेत-रेत हैं। अंगदु मयंदु नलु नील बलसील महा बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं॥'; 'आयो हनुमानु, प्रानहेतु अंकमाल देत, लेत पगधूरि एक चूमत लँगूल हैं।'''''एक भूखे जानि आगें आनैं कंद-मूल-फल, एक पूजैं बाहुबलमूल तोरि फूल हैं॥ एक कहैं 'तुलसी' सकल सिधि ताकें, जाकें कृपा-पाथनाथ सीतानाथु सानुकूल हैं॥'*** (५। २९-३०)

नोट—३ ***'नूतन जनम कपिन्ह तब जाना'*** इति। श्रीसुग्रीवजीने कहा था कि ***'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आइहि बनिहि सो मोहि मराये॥'*** अब सुध पा गये, अतः नया जन्म हुआ। समुद्रतटपर सब मरनेके लिये बैठे थे—***'बैठे कपि सब दर्भ डसाई'***, कि अवधि बीत गयी सुध भी न मिली, अब अवश्य मारे जायँगे इससे यहाँ स्वयं ही प्राण देनेपर उद्यत थे। अतएव कहा कि ***'नूतन जनम'''''।'*** नोट २ भी देखिये।

टिप्पणी—२ ***'हरषे सब बिलोकि'''''*** ' इति। (क) महाध्वनि पूरी न हो पायी कि इस पार आ गये। जब समुद्र थोड़ा पार करनेको रह गया तब वानरोंको शब्द सुन पड़ा और हनुमान्‌जी आकाशमें पहले ही देख पड़े। यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट करते हैं कि ***'मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा'***। यह देखकर सब प्रसन्न हुए और यह समझकर कि रामकार्य कर लाये हैं सबने अपना नया जन्म जाना। इससे सूचित हुआ कि संतदर्शनसे नया जन्म होता है। (ख) ***'रामचन्द्रकर काजा।'*** इति। श्रीसुग्रीवजीने वानरयूथपोंसे कहा था—***'रामकाजु अरु मोर निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा॥'.....'रामचन्द्र कर काज सँभारेहु।'***; और ***'पाछे पवनतनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥'*** (कि० २२-२३) जाम्बवन्तजीने भी कहा है कि ***'रामकाज लगि तव अवतारा।'*** (कि० ३०)—उसी सम्बन्धसे कहा कि ***'कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा।'*** (तीन ही पदार्थ तेजोमय माने गये हैं—चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि। सूर्य और तापदायक हैं, चन्द्रमा शीतलत्व प्रदान करनेवाला है। अमृतमय भी है। सब वानर मरणप्राय थे उनको शीतल किया, जिलाया। अतः यहाँ तेजके सम्बन्धसे 'चन्द्र विशेषण दिया। अग्नि और सूर्य नहीं कहा।' ***'रामचंद्र कर काज'*** अर्थात् सब काम किये जो कहे गये थे—***'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥'*** (४। २३) यथा—**'सर्वथा कृतार्थोऽसौ हनुमान्नात्र संशयः।'** (वाल्मी० ५। ५७। २३) ☞ ***'सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा'*** से ***'रामचंद्र कर काजा'*** तक जो कुछ कहा गया वह आकाशमें उड़ते हुए समयका है। आगे

'मिले सकल' यह नीचे वानरोंके मध्य उतरकर आ जानेपरकी बात है। प्रसन्न देख कार्य-सिद्धिका निश्चय करना 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है।]

मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि* बारी†॥५॥

अर्थ—सब वानर श्रीहनुमान्‌जीसे मिले और (ऐसे) अत्यन्त सुखी हुए जैसे तड़पती हुई मछली जल मिल जानेसे (सुखी होती है)॥५॥

नोट—१ *'मिले सकल अति भये सुखारी।'* इति। इससे जनाया कि वानरोंने उन्हें अत्यन्त हर्षपूर्वक गले लगाया। किसीने उनकी पूँछ चूमी और कोई मारे खुशीके अति उत्साहसे नाचने लगे। कोई सिंहनाद करने लगे, कोई गर्जने लगे, कोई किलकिलाने लगे, कोई पूँछोंको खड़ी कर प्रसन्नता प्रकट करने लगे, कोई पूँछोंको बार-बार फटकारने लगे।—*'अति सुखारी'* से ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जीने कह दिया है कि हम सीताजीको देख आये। इसीसे अत्यन्त सुख हुआ। यथा—**'इत्युक्ता वानराः सर्वे हर्षेणालिङ्ग्य मारुतिम्॥ केचिच्चुचुम्बुर्लाङ्गूलं ननृतुः केचिदुत्सुकाः।'** (अ० रा० ५। ५। १६-१७) **'ततो दृष्टेति वचनं महार्थममृतोपमम्॥ निशम्य मारुतेः सर्वे मुदिता वानराभवन्। क्ष्वेडन्त्यन्ये नदन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये महाबलाः॥ चक्रुः किलकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे। केचिदुच्छ्रितलाङ्गूलाः प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः॥ आयताञ्चितदीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रतिव्यधुः।'** (वाल्मी० ५। ५७। ४०—४३)

टिप्पणी—१ *'तलफत मीन पाव जिमि बारी।'* इति। (क) भाव यह कि इनके बिना व्याकुल और दुःखी थे, इनको पाकर सुखी हुए। यथा—*'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई॥'* (ख) प्रथम हनुमान्‌जीको देखकर सुखी हुए—*'हरषे सब बिलोकि'।* अब गले मिले, तब *'अति सुखी'* हुए। (ग) मीनके जल पानेकी उपमा देकर जनाया कि हनुमानजी सबके प्राणोंके रक्षक हुए, *'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥'* (घ) *'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवौं सीतहि देखी।'* इन चरणों या वचनोंका यहाँ चरितार्थ है। सब अत्यन्त दुःख सहकर यहीं बने रहे और हनुमान्‌जीको प्रतीक्षा कर रहे थे। हनुमान्‌जीने आकर उनको यहाँ पाया और *'होइहि काजु'* जो कहा था उसकी पूर्तिकी सूचना दी।

नोट—२ *'तलफत मीन पाव जिमि बारी'* इति। श्रीदशरथमहाराजके प्रसंगमें भी कुछ ऐसा ही कहा है—*'तलफत मीन मलिन जनु सींचत सीतल बारि।'* (२। १५४); पर यहाँ *'जिमि'* है और हाँ 'जनु'; यहाँ उदाहरण है और वहाँ उत्प्रेक्षा। मानसकविका सँभाल प्रशंसनीय है। *'जिमि'* और *'जनु'* का भेद साभिप्राय है, भावपूर्ण है। वहाँ राजाको वस्तुतः जीवनदान हुआ नहीं, क्योंकि कार्यसिद्धि नहीं हुई, श्रीरामजी लौटे नहीं। और, यहाँ कार्यसिद्धिरूपी जीवनदान हुआ। अतएव *'जिमि'* पाठ उत्तम है।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जी सब वानरोंको परमप्रिय हैं, हनुमान्‌जी इस बातको जानते हैं। जाते समय सबको सहेज गये हैं *'तब लगि मोहि परखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवहुँ सीतहिं देखी।'* भाव यह कि मेरे विरहके दुःखको सहकर मेरी प्रतीक्षा करना, मेरी सहायताके लिये समुद्र पार जानेका साहस न करना। अथवा मेरे लिये अनशन न करना; दुःखी होनेपर भी फल-मूल खाना। सो हनुमान्‌जीके विरहसे सब दुखारी थे, मिलकर सब सुखारी हुए। जैसे तड़पती हुई मछलियोंको जल मिल जाय। मछलियाँ बहुत हैं अकेला जल सबसे मिलकर सबको सुखी करता है, इसी भाँति हनुमान्‌जीसे मिलकर सब सुखी हुए।

☞ *'जनकसुता के आगे ठाढ़ भयउ कर जोरि'* दोहा २६ से यहाँतक *'नाँघेउ बहुरि पयोधि'* प्रसंग है।

---

* जनु—१७०४, कोदवराम। जिमि—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०, गी० प्रे०।—नोट २ देखिये।

† 'मिले.....' पायकुलक। 'तलफत' नयमालिनी—(ब्र० चं०)।

'आये कपि सब जहँ रघुराई'-प्रकरण।

चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा॥ ६॥

अर्थ—सब हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीके पास चले। मार्गमें नवीन इतिहास पूछते कहते (चले जा रहे) हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'चले हरषि''''पूछत कहत'* इति। (क) विनयपत्रिकामें कहा है कि श्रीरामकृपासे संतोंका दर्शन होता है। संतके दर्शन, स्पर्श और समागमसे पापसमूह नाशको प्राप्त होता है, सुख प्राप्त होता है। यथा—*'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये। जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइये॥'* (१३६। १०) श्रीहनुमान्‌जी भगवद्भक्तशिरोमणि हैं, संत हैं। अतः इस प्रसंगमें *'हरषे सब बिलोकि हनुमाना।'* से यहाँतक साधु हनुमान्‌जीका दर्शन, स्पर्श और समागम क्रमशः दिखाया गया है। पहले दर्शन और स्पर्श हुआ। *'हरषे सब बिलोकि'* दर्शन है, *'मिले सकल'* स्पर्श है। अब इस अर्धालीमें *'पूछत कहत नवल इतिहासा'* यह समागम कहा गया है। (ख) दर्शन, स्पर्श और समागमसे प्रभुकी प्राप्ति होती है, इसीसे श्रीरामजीके पास चलना कहा, सुग्रीवके पास नहीं। (ग)—उत्तरोत्तर वानरोंके हर्षकी वृद्धि दिखाते हैं—देखकर 'हर्ष' हुआ; मिले तब सुखी हुए और श्रीरामजीके पास चले तब और हर्ष हुआ।

प० प० प्र०—*'चले हरषि'* इति। वाल्मीकिजीके **'प्रीतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरःसराः। महेन्द्राग्रात् समुत्पत्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः॥' 'राघवे चार्थनिर्वृत्तिं कर्तुं च परमं यशः। समाधाय समृद्धार्थाः कर्मसिद्धिभिरुन्नताः॥ प्रियाख्यानोन्मुखाः सर्वे सर्वे युद्धाभिनन्दिनः। सर्वे रामप्रतीकारे निश्चितार्था मनस्विनः॥'** (वाल्मी० २, ५-६) अर्थात् समस्त वानर हनुमान्‌जीको आगे कर प्रसन्न होते हुए महेन्द्राचलको छोड़ उछलते-कूदते चल दिये। श्रीरामचन्द्रजीका कार्य करके सफल-मनोरथ और यशको प्राप्त होनेसे वे अपनेको अन्य दिशाओंमें भेजे हुए वानरोंसे उत्कृष्ट समझ रहे थे। सभी वानर श्रीरामजीको शुभ संवाद सुनानेको उत्सुक हो रहे थे। सब-के-सब युद्धका अभिनन्दन करनेको तत्पर थे। वे मनस्वी वानर श्रीरामचन्द्रजीका बदला रावणसे लेनेका दृढ़ संकल्प किये हुए आकाशमें उछलते-कूदते चले जा रहे थे।—इस उद्धरणके सब भाव *'चले हरषि'* में हैं। पुनः, हर्षपूर्वक चले इससे कि—(क) श्रीसीताजीका समाचार पाकर अब श्रीरामजी हम सबोंपर विशेष प्रसन्न होंगे। (ख) दर्शनकी उत्कंठा है। (ग) यात्राके समय हर्ष शकुन है। (घ) पूर्व जो सुग्रीवका भय था कि *'उहाँ गए मारिहि कपिराई॥'* (४। २६), वह भय जाता रहा। सुग्रीवजी भी हमपर विशेष प्रसन्न होंगे। (ङ) इस प्रसंगका उपक्रम *'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं जुवराज प्रबीना॥'* (कि० २६) है, उस प्रतिज्ञाकी पूर्त्तिसे प्रसन्न हैं, अतः *'चले हरषि'*। (च) श्रीरामजीका वियोगजनित शोक दूर होगा, यह समझकर *'हरषि चले'* (छ) किष्किन्धासे जब यह वानरयूथ चला तब हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीका स्मरण करते हुए चला था, यथा—*'चले हरषि सुमिरत रघुराई'* और श्रीहनुमान्‌जीने तो रामकार्य सौंपे जानेसे अपना जन्म सुफल समझा और हृदयमें कृपानिधानको धारण करके प्रस्थान किया था। यथा—*'हनुमत जन्म सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥'* इसीसे कार्य श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा हुए, ये कभी कृपानिधानको भूले नहीं, इसीसे इनको किसी प्रकारका कष्ट और भय नहीं हुआ। वानरयूथ हर्षित होकर प्रभुका स्मरण करते चला था; अतः इस वानरयूथको भी इस कार्यका यश प्राप्त हुआ। और इसीसे लौटते समय सब *'चले हरषि रघुनायक पासा।'* इससे उपदेश मिलता है कि जिस कार्यका प्रारम्भ हर्षित होकर और भगवत्स्मरणयुक्त किया जाता है उस कार्यमें विघ्न उपस्थित होनेपर भी भगवान्‌की कृपासे कार्य सुफल होता है।

टिप्पणी—२ *'नवल इतिहासा'*—लङ्काका वृत्तान्त, यथा—*'सीयको सनेहु, सीलु, कथा तथा लंकाकी, कहत चले चायसो, सिरानो पथु छनमें।'* (क० सुं० ३१) श्रीहनुमान्‌जी अपना पुरुषार्थ अपनी ओरसे अपने मुखसे नहीं कहना चाहते। इसीसे *'पूछत कहत'* लिखा अर्थात् जब सब पूछते हैं, तब जितना पूछते हैं उतना कहते हैं, ऐसा न होता तो *'पूछे कहत'* ऐसा लिखते। वे बारंबार पूछते हैं और ये बार-बार उत्तर देते हैं।

नोट—१ वाल्मीकीयमें जाम्बवान्‌जीका प्रश्न करना वर्णित है। यथा—**'जाम्बवान्कार्यवृत्तान्तमपृच्छदनिलात्मजम्।**

कथं दृष्टा त्वया देवी कथं वा तत्र वर्तते॥ तस्यां चापि कथं वृत्तः क्रूरकर्मा दशाननः। तत्त्वतः सर्वमेतन्नः प्रब्रूहि त्वं महाकपे॥'''''श्रुतार्थाश्चिन्तयिष्यामो भूयः कार्यविनिश्चयम्॥' (५। ५८। ३—५) अर्थात् पूछा कि—तुमने देवी श्रीसीताजीको कैसे देखा? वे वहाँ किस प्रकार हैं? क्रूरकर्मा रावणका उनके प्रति कैसा व्यवहार है? समस्त वृत्तान्त बताओ जिससे हम आगेका कर्त्तव्य निश्चय करें। इसके पूर्व सर्ग ५७ में भी लिखा है कि हनुमान्‌जीने प्रथम संक्षेपसे सब वृत्तान्त कह दिया। फिर वानरोंके पूछनेपर पुनः श्रीसीताजीके दर्शन पानेकी बात कही। (दो श्लोकोंमें) फिर वानरोंने उनके समुद्रलंघन, लंकामें प्रवेश, सीताशोध, रावणके दर्शन, लंकादहन, श्रीसीताजीसे वार्तालाप आदि सब वृत्तान्त सुननेकी इच्छा प्रकट की। तब जाम्बवान्‌जीने प्रश्न किया और उन्होंने विस्तृत उत्तर दिया, जो सर्ग ५८ में है—इसीसे ग्रन्थकारने *'पूछत' 'कहत'* शब्द दिये। ☞ परंतु वाल्मीकीयमें यह सब पूछना और कहना महेन्द्राचल समुद्रतटपर ही है। मानसकल्पके वानर श्रीरामकार्यमें विशेष लवलीन हैं, स्वामीका वियोगजनित दुःख शीघ्र दूर करनेकी उत्कंठा है, अतएव वे अब समुद्र-तटपर समय बिताना नहीं चाहते, रास्तेमें ही सब वृत्तान्त सुन लेंगे और रास्ता भी शीघ्र कट जायगा। अध्यात्मरामायणमें भी तुरंत चल दिये हैं। यथा—**'इदानीमेव गच्छामो रामसुग्रीवसन्निधिम्।'** (५। ५। १६)—श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि हम सब इसी समय श्रीराम और सुग्रीवजीके पास चल देंगे।

तब मधुबन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥७॥
रखवारे जब बरजन* लागे। मुष्टि प्रहार हनत सब भागे†॥८॥

अर्थ—तब सब मधुवनके भीतर आये और अङ्गदकी सम्मतिसे मीठे-मीठे फल खाये एवं मधुपान किया॥७॥ जब रखवाले मना करने—डाँटने लगे तब घूँसेका प्रहार करते ही सब (रक्षक) भाग गये॥८॥

नोट—१ *'मधुबन भीतर सब आए'* इति। (क) यह सुग्रीवजीका विहार-उपवन था। यह इन्द्रके नन्दनवनके समान वृक्षों और लताओंसे युक्त था। इसमें कोई भी वानर जाने न पाता था। यह अपनी शोभासे सभीका मन हर लेता था। श्रीसुग्रीवजीका यह अत्यन्त प्यारा महावन था। यह उनके बाप-दादाके समयका था। देवता लोग भी इसके भीतर न जा सकते थे—**'पितृपैतामहं दिव्यं देवैरपि दुरासदम्॥'** (वाल्मी० ५। ६२। ३३) देवताओंद्वारा यह श्रेष्ठ मधुवन प्राप्त हुआ था—**'वनं दत्तकरं दिव्यम्'** (५। ६२। २७), **'ऋक्षरजसे ब्रह्मणा दत्तमित्यवगम्यते।'** हजारों वानररक्षकोंसहित सुग्रीवका मामा दधिमुख इसकी रखवाली करता था। (ख) *'सब आए'* का भाव कि कहाँ तो उसमें अङ्गदजी भी बिना आज्ञाके न जा सकते थे और कहाँ सब-के-सब वानर घुस पड़े।

नोट—२ *'अंगद संमत'* से जनाया कि वानरोंकी इच्छा थी कि आज भरपेट फल खाकर और मधुपान करके तृप्त हो जायँ। इच्छा प्रकट करनेपर युवराजने आज्ञा दी। यथा—**'क्षुधिताः स्मो वयं वीर देह्यनुज्ञां महामते। भक्षयामः फलान्यद्य पिबामोऽमृतवन्मधु॥'** (अध्यात्म० ५। ५। १९) (अर्थात्) हे वीर! हम सब बहुत भूखे हैं; हमें आज्ञा दीजिये कि हम इस वनके फल खायें और अमृततुल्य मधु पीयें। पुनश्च यथा—**'कुमारमभ्ययाचन्त मधूनि'''''॥'''''अनुमान्य ददौ तेषां निसर्गं मधुभक्षणे॥'** (वाल्मी० ५। ६१। ११-१२) अर्थात् उन्होंने अङ्गदजीसे मधुफलोंका मधु पीनेकी आज्ञा देनेके लिये प्रार्थना की। उन्होंने सबको मधुवनमें जानेकी तथा मधुफल खानेकी आज्ञा दे दी।

नोट—३ यहाँ *'मधु फल'* पाठ है। यही पाठ सब प्राचीन प्रतिलिपियोंका है। आधुनिक कुछ टीकाकारोंने *'अंगद सहित मधुर फल खाए'* पाठ कर दिया है। *'मधु फल'* का भाव यह है कि 'मधु-पान किया और मीठे फल खाए।' यह बात वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणसे भी सिद्ध होती है। यथा—**'अव्यग्रमनसो यूयं मधु सेवत वानराः॥'**, **'प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा पिबन्तु हरयो मधु। अवश्यं कृतकार्यस्य वाक्यं हनुमतो मया॥'**;

---

* बरजन—का०, ना० प्र०, गी० प्रे०। वरजइ—भा० दा०। वरजै—ब्र० चं०।

† पायकुलक—(ब्र० चं०)।

'पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः॥' इत्यादि। (वाल्मी० ५। ६२। १, ३, ७) अर्थात् हनुमान्‌जीने कहा कि सब मधुपान करो, अङ्गद भी सहमत हुए। मधुपानकी आज्ञा दे दी और सब मधुपान करने लगे एवं फल खाने लगे। 'मधु'=मकरन्द, फूल-फलका रस। शहद, ताड़ी। गीतावलीमें भी मधुका पीना कहा गया है, यथा—*'पीवत मधु मधुबन मगन मोद॥'* (सुं० १६)

टिप्पणी—१ (क) *'अंगद संमत'* देहलीदीपक है। उनके सम्मतिसे बागमें गये और सम्मतिसे ही फल खाये। तात्पर्य कि इस बागमें जाना और इसके फल खाना दोनों दुर्लभ हैं; अतएव युवराजकी सम्मतिसे गये और खाया। यथा—*'कह्यो जुबराज बोलि बानरसमाजु, आजु खाहु फल, सुनि पेलि पैठे मधुबनमें॥ मारे बागबान, ते पुकारत देवान गे, 'उजारे बाग अंगद' देखाए घाय तनमें॥'* (क० ५। ३१) (ख) **'नवल इतिहास'** कहते-सुनते मधुबनमें आ गये, विलम्ब न लगा। इस कथनसे दिखाया कि रामचरित कहते-सुनते-मात्र रास्ता **'सिराइ'** (शीघ्र चुक) जाता है। यथा—*'बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥'* (१। ५८), *'पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा॥'* (३। १२) (ग) *'भीतर सब आए'* से जनाया कि वन बहुत बड़ा था। (घ) *'अंगद संमत'''''* से जनाया कि जबसे ये वानर अनशनव्रत करके समुद्रतटपर बैठे थे, तबसे अबतक फल न खाये थे, बहुत भूखे थे, तब भी अपनी ओरसे ये फल न खा सके; जब युवराजने आज्ञा दी तब खाया। क्योंकि युवराज भी मालिक ही होता है। यथा—**'युवराजस्त्वमीशश्च वनस्यास्य महाबल॥'** (वाल्मी० ५। ६४। ७) [यह दधिमुखने स्वयं अङ्गदजीसे कहा है।]

टिप्पणी—२ (क) *'रखवारे'* और *'लागे'* बहुवचन हैं। इससे जनाया कि रक्षक बहुत थे। उनको मारा; क्योंकि उन्होंने युवराजका भी हुक्म कुछ न समझा, न रामजीको माना न वानरोंको। वानरोंको कामकार्य करनेका बल है, इसीसे उन्होंने फल खाये। प्रमाण, यथा—*'जौं न होति सीता सुधि पाई। मधु बन के फल सकहि कि खाई॥'* दूसरे, अङ्गदकी सम्मतिका बल है और तीसरे क्षुधार्त्त थे ही; अतः फल खाये। रोकनेपर क्रोध हुआ, अतः मारा। यथा—**'अतिसर्गाच्च पटवो दृष्ट्वा श्रुत्वा च मैथिलीम्। पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः॥ उत्पत्य च ततः सर्वे वनपालान्समागतान्। ते ताडयन्ति शतशः सक्तामधुवने तदा।''''घ्नन्ति स्म सहिताः सर्वे भक्षयन्ति तथापरे॥'** (वाल्मी० ५। ६२। ७—१०) अर्थात् अङ्गदकी आज्ञा पाने, सीताजीका समाचार लानेसे सब अत्यन्त उद्दण्ड हो मधु पीने और फल खाने लगे। जो रक्षक उनको बर्जते थे उनको इकट्ठे होकर मारते थे। (ख)—*'जब बरजन लागे'* से जनाया कि रखवालोंने जब मना किया तब इन्होंने मारा, पहलेहीसे नहीं मारा। रखवालोंका किसीको मारना नहीं कहते; क्योंकि रखवाले सबको जानते हैं कि अङ्गद युवराज हैं और जाम्बवान्‌जी एवं हनुमान्‌जी मन्त्री हैं जो इनके साथ हैं। (ग) *'मुष्टि प्रहार हनत सब भागे'* यथा—**'तेऽपि तैर्वानरैर्भीमैः प्रतिषिद्धा दिशो गताः।'** (वाल्मी० ५। ६२। १६)

दो०—जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज*॥ २८॥

अर्थ—उन सबोंने जाकर पुकार (फरियाद) की कि युवराज वनको उजाड़ रहे हैं। यह सुनकर सुग्रीव हर्षित हुए कि वानर प्रभुका कार्य कर आये हैं॥ २८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सब भागे'* पूर्वमें और यहाँ *'पुकारे ते सब'* कहकर जनाया कि वानरोंने सभी रक्षकोंको मारकर निकाल दिया। ☞ इससे यह उपदेश मिला कि उत्तम कार्य करनेवालेको उत्तम फल मिलता है और विघ्नकर्ताको दण्ड होता है। रामकार्य करनेवाले सेवकोंके कार्यमें विघ्न डालनेवालोंको यही फल मिलता है। (ख) *'पुकारे ते सब'* इति। सभीने पुकार की, कारण कि जो न खबर देता, उससे जवाब माँगा जाता कि क्यों आकर खबर न दी। पुनः सबने मना किया और सबने पुकार की, इससे

* दोहरा है—(ब्र० चं०।)

ज्ञात हुआ कि यह वन बहुत भारी है; इसमें ठौर-ठौरपर रक्षक नियुक्त थे।—[इसमें दधिमुखके नीचे हजारों वनरक्षक थे, यथा—'**वीराः पालास्तत्र सहस्रशः**' (वाल्मी० ५। ६२। २४) जब जिसकी हदमें वानर गये तब उसने मना किया और मार खाते ही भागा।

नोट—१ '*बन उजार जुबराज*' इति। '*उजार*' से जनाया कि अघा-अघाकर मधुपान किया, फल खाये, मधुपानसे मतवाले हो जो फल बचे उन्हें भी नष्ट कर डाला, पत्ते तोड़ डाले, इत्यादि। यथा—'**एभिः प्रधर्षिताश्चैव वानरा वनरक्षिभिः। मधून्यचिन्तयित्वेमान्भक्षयन्ति पिबन्ति च॥ शिष्टमत्रापविध्यन्ति भक्षयन्ति तथापरे॥**' (वाल्मी० ५। ६३। ६-७) पुनः भाव कि अब भी उजाड़ रहे हैं, आपका उनको किंचित् भी भय नहीं है। अपना मारा जाना नहीं कहा। अध्यात्म० ५। ५। २५ में भी ऐसा ही है—'**नष्टं मधुवनं तेऽद्य कुमारेण**·····।'

टिप्पणी—२ पूर्व '*अंगद संमत*' ऐसा कहा और यहाँ 'युवराज' पद दिया। भाव यह कि पूर्व सेनामें अङ्गद सेनापति थे और दूसरा कोई इस नामका न था और यहाँ किष्किन्धामें इस समय असंख्य वानर हैं, उनमें न जाने कितनेका नाम अङ्गद होगा। अतः यहाँ 'युवराज' कहा, जिसमें यह न पूछना पड़े कि कौन अङ्गद? क्योंकि इनके आनेकी तो अभी सूचना थी ही नहीं। पुनः इन्होंने हुक्म दिया कि फल खा लो। राजाका हुक्म चलता है, इसीसे सबने खाया। यह कहकर अङ्गदका दोष दिखानेके लिये 'युवराज' कहा।

नोट—२ वाल्मीकीयमें मधुवनके दारोगा दधिमुखने सब रक्षकोंसे कहा है कि सब दोष हम लोग अङ्गदपर डालेंगे जिससे अमर्षी सुग्रीव सबको दण्ड देंगे, यथा—'**सर्वं चैवांगदे दोषं श्रावयिष्यामि पार्थिवे। अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान्।** ·········**घातयिष्यति दण्डेन सुग्रीवः ससुहृज्जनान्॥ वध्या ह्येते दुरात्मानो नृपाज्ञापरिपन्थिनः। अमर्षप्रभवो रोषः सफलो नो भविष्यति॥**' (वाल्मी० ५। ६२। ३२—३४) अर्थात् सुग्रीवजी इसे नहीं सह सकेंगे, वे इन सबोंको बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालेंगे, इनके मार डाले जानेपर हम लोगोंका यह अक्षमाजन्य क्रोध सार्थक होगा।—अतएव 'युवराज' अङ्गदका नाम लिया। 'युवराज' पदसे यह भी जनाया कि युवराज-पदके अभिमानमें अपना मालिकपना दिखानेके लिये उन्होंने मधुवन उजाड़ा। इनका नाम इससे भी लिया होगा कि इससे सुग्रीवको बालिकी शत्रुता स्मरण हो आयेगी और वे मधुवनके मिष इनको मारकर निष्कण्टक होनेकी चेष्टा अवश्य करेंगे।

वि० त्रि०—मधुवनके रखवारोंने जब बंदरोंको रोका, तो वे रुके नहीं, घूँसा चलाने लगे। रखवारे भाग खड़े हुए। उन सबोंने जाकर सुग्रीवके यहाँ पुकार मचायी कि युवराजने वन उजाड़ डाला। अङ्गद न कहकर युवराज कहनेका भाव यह कि दूसरा कोई होता तो हम लोग युद्ध करते। पर जब स्वयं युवराज ही उजाड़ रहे हैं, उनपर प्रहार कैसे करें? मना तो किया, पर जब उधरसे घूँसा चलने लगा तो हमलोग सरकारको समाचार देने आये हैं। उन सबोंने आशा की थी कि सुनकर सुग्रीव नाराज होंगे। दण्डविधान करेंगे सो कुछ न हुआ।

लमगोड़ाजी—'*सुनि सुग्रीव हरष*·····' इति। नाटकीय विरोधाभास (Dramatic Irony) अति उत्तम है। कहनेवालोंका भीतरी अभिप्राय तो यह है कि सुग्रीवजी अप्रसन्न हों, पर वे उलटे प्रसन्न होते हैं।

टिप्पणी—३ '*सुनि सुग्रीव हरष कपि*·····' से जनाया कि जबतक यह समाचार न मिला तबतक सुग्रीवको बड़ी चिन्ता रही '*प्रभु काज*' का भाव कि वे समर्थ हैं; जिससे चाहते हैं उससे अपना कार्य करा लेते हैं।

नोट—३ ☞ यहाँ उपदेश है कि रामकार्यमें अपने परमप्रिय स्वार्थसम्बन्धी पदार्थकी हानिकी भी परवा न करनी चाहिये।

जौं न होति सीता सुधि पाई। मधुबन के फल सकहिं कि खाई॥ १॥
एहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गए कपि सहित समाजा*॥ २॥

---

* पायकुलक—(ब्र० चं०)।

अर्थ—जो श्रीसीताजीकी सुध न पायी होती तो मधुवनके फल कौन खा सकता? (अथवा, क्या कोई खा सकते?) अर्थात् कदापि नहीं॥ १॥ इस प्रकार राजा मनमें विचार कर ही रहे थे कि वानर समाजसहित आ गये॥ २॥

टिप्पणी—१ *'जौं न होति सीता सुधि पाई।'''* यह अनुमान सुग्रीवका बहुत पुष्ट है। इस कथनसे यह जाना गया कि सुग्रीवको मधुवन अत्यन्त प्रिय है। वहाँ किसीको जानेकी आज्ञा नहीं।

टिप्पणी—२ *'जौं न'''मधुबन'''सकहि कि''''* इति। [भाव कि श्रीसीताजीकी सुधि न पायी होती तो मधुवनके फल खाना, मधुपान करना तो दूर रहा उसकी ओर ताक भी न सकते। यथा—'**दृष्टागतो न सन्देहः सीतां पवननन्दनः॥ नो चेन्मधुवनं द्रष्टुं समर्थः को भवेन्मम।**' (अध्यात्म० ५।५।२६-२७; सुग्रीववाक्यं श्रीरामं प्रति)]

शंका—रखवालोंने वनका उजाड़ना कहा, यथा—*'जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज'*, तब सुग्रीवने उससे मधुवन कैसे समझ लिया? समाधान—रखवालोंको पहचानते हैं, जानते हैं, कि ये मधुवनके रक्षक हैं।

टिप्पणी—३ *'एहि बिधि मन बिचार कर राजा''''।'* तात्पर्य कि इस प्रकारके विचार करते हुए शोभाको प्राप्त हुए—मन प्रसन्न हुआ, सोच मिटा; इसीसे *'राजा'* कहा। *'राजृ दीप्तौ'*। पुनः, जब जाना कि रामकार्य कर आये तब जाकर मधुवनमें ही सबसे मिलते, यह नहीं किया; क्योंकि ये *'राजा'* हैं। राजाको ऐसा न करना चाहिये कि दौड़कर सिपाहियोंसे जाकर मिले; यह नीतिविरुद्ध है; इससे न गये। मनमें विचार करते बैठे रहे। (ख)—मनमें विचार करनेका भाव यह कि अनुमान मनमें ही किया जाता है। *'आइ गए'* से जनाया कि बहुत शीघ्रतासे फल खाये और सुग्रीवके पास आ गये।

नोट—१ वाल्मी० ५। ६३ और ६४ में सुग्रीवजीने विचार यों प्रकट किये हैं—'बिना कार्य किये यह साहस नहीं हो सकता कि वनको उजाड़ दें और रक्षकोंको मारें। निस्संदेह हनुमान्‌जीहीने पता लगाया है, दूसरेने नहीं। और कोई इस कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता, उन्हींमें यह शक्ति और बुद्धि है। उद्योग, बल और ज्ञान भी उनमें हैं। प्रतिष्ठित जाम्बवान् जिसके संचालक, महाबली अङ्गद जिसके नेता और हनुमान्‌जी अधिष्ठाता हों वह दल अन्याय नहीं करेगा। निश्चित है कि उन लोगोंने पता लगा लिया है, तभी हमारे उपभोगके वनमें जाकर वे मधुपान कर रहे हैं बिना श्रीसीताजीको देखे ऐसा कदापि न करते, देवता भी इस वनपर दृष्टि नहीं डाल सकते। और रक्षकोंसे बोले कि हम प्रसन्न हैं कि उन्होंने कार्य करके वनको खा डाला। हम उनके अनुचित व्यवहारको क्षमा करते हैं। तुम जाकर उन्हें शीघ्र भेज दो। दधिमुखके विनम्र वचन सुनकर अङ्गदजी सबको लेकर चल दिये। और इधर सुग्रीव फिर भी वही विचार करते रहे कि अवधि बीत गयी, ऐसी दशामें अङ्गद कभी न लौटते यदि कार्य सिद्ध न होता। इत्यादि। इतनेमें ही सब आ पहुँचे।' मा० त० सु० का मत है कि विचार यह कर रहे हैं कि यह समाचार जाकर श्रीरामजीको सुनाऊँ, कि मधुवनमें जाकर तुरंत वानरोंसे मिलूँ या सबको साथ लेकर रामजीके पास जाऊँ इत्यादि। ☞ मानसमें ये सब सुग्रीवजी अपने मनमें विचार कर रहे हैं। वाल्मीकीयमें ये विचार उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी एवं श्रीरामजीसे कहे हैं।

आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिलेउ* सबन्हि अति प्रीति कपीसा॥ ३॥
पूँछी कुसल कुसल पद देखी। रामकृपा भा काजु बिसेषी†॥ ४॥

अर्थ—सभीने आकर सुग्रीवजीके चरणोंमें माथा नवाया। कपिराज सुग्रीव सभीसे अत्यन्त प्रेमसे मिले॥ ३॥ और कुशल पूछी। (उन्होंने उत्तर दिया कि) आपके चरणोंके दर्शनसे कुशल है। श्रीरामजीकी कृपासे विशेष कार्य हुआ॥ ४॥

* 'मिलेउ प्रीति'—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०। प्रेम—१७०४, कोदवराम, गी० प्रे०। मिले—रा० प्र०, कोदवराम।
† 'मिले·····'—चण्डी, 'आइ·····।', (४), (५) पायकुलक—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—१ *'आइ सबन्हि नावा पद सीसा·····'* इति। (क) *'आइ'* का भाव कि जाते समय सुग्रीवके चरणोंमें सिर नवाना भूल गये थे। कारण कि उस समय बड़ा उग्र हुक्म हुआ था, उसे सुनकर प्रणाम करना भूल गये, तुरन्त चल दिये। यथा—*'बचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत'।* अब जब लौटे तब प्रणाम किया। (ख) पुनः, *'सबन्हि नावा'* का भाव कि पहले केवल अङ्गदादिने प्रणाम किया था; यथा—*'सुनहु नील अङ्गद हनुमाना। जामवंत मतिधीर सुजाना॥'·····'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥'* (४। २३) और सबने न किया था पर अब आकर सबने प्रणाम किया, कोई न छूटा। (ग) *'मिलेउ अति प्रीति'* का भाव कि वानर आकर सेवक-स्वामि-भावसे चरणोंपर झुके और सुग्रीवने उनको बराबरका मानकर उनसे गले लगाकर भेंट की। क्योंकि ये सब रामकार्य कर लाये हैं; यथा—*'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि॥'* (६। २३), *'अति प्रीति'* का भाव कि प्रीति तो सबपर प्रथमहीसे थी, पर अब रामकार्यके सम्बन्धसे *'अत्यन्त'* प्रीति हुई।

नोट—१ *'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति'* इति। *'अति प्रीति'* से सूचित करते हैं कि उन्होंने जो अवधि बिताने और प्राणप्रिय मधुवनके उजाड़नेका अपराध किया था वह सब इस कार्यके आगे क्षम्य और तुच्छ समझकर वे इनके अपराधपर अति प्रसन्न हैं—**'प्रीतोऽस्मि सोऽहं यद्भुक्तं वनं तैः कृतकर्मभिः। मर्षितं मर्षणीयं च चेष्टितं कृतकर्मणाम्॥'** (वाल्मी० ५। ६३। २९-३०) (यह सुग्रीवजीने दधिमुखसे कहा है।) *'अति प्रीति'* उनके हृदयका महामोद प्रकट कर रहा है—*'उजारे बाग अंगद दिखाए घाय तन में। कहैं कपिराज करि काज आये कीस, तुलसीस की सपथ महामोद मेरे मन में।'* (क० ४। ३१) पुनः, पूर्व जो *'मास दिवस महुँ आएहु भाई।'* (४। २२। ७) में जो भाव कह आये हैं कि जो सीताजीको देखकर आवेगा वह हमारा *'भाई'* होगा, उससे बढ़कर हमारा प्रिय कोई न होगा, बहुत अपराध करनेपर भी वह *'भाई'* और प्राणप्रिय होगा—**'ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद्विशेषतः। कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति॥'** (वाल्मी० ४। ४१। ४८) उसको *'अति प्रीति मिलेउ'* कहकर यहाँ चरितार्थ किया। अर्थात् इस प्रकार भेंटकर उनको अपना बंधु मान लिया। पुनः, आज इन कृतकर्मा वानरोंद्वारा सुग्रीवकी प्रतिज्ञा सत्य हुई कि—*'मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी। सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥'* (४। ५), अतः अत्यन्त प्रीति उमड़ आयी है।

टिप्पणी—२ शंका—सब वानर रघुनाथजीके पास चले, ऐसा पूर्व कहा गया है, यथा—*'चले सकल रघुनायक पासा',* तब यहाँ प्रथम सुग्रीवके पास क्यों आये? समाधान—सुग्रीवके पास प्रथम आये, क्योंकि इससे सुग्रीवकी कीर्ति बढ़ेगी, उनकी शोभा इसमें होगी कि वे श्रीसीताजीका समाचार मँगवाकर हाजिर हुए, नहीं तो यही कहा जाता कि वानरोंने खबर लाकर दी और सुग्रीव प्रमादवश घरमें ही बैठे हैं। [यह भी कारण हो सकता है कि सुग्रीवजीने वानर रक्षकोंसे कहा हो कि जाकर सबको शीघ्र मेरे पास भेज दो। उनके कहनेसे सब सीधे तुरंत सुग्रीवजीके पास आये। मानसकविने शीघ्रता दरसानेके कारण यह न लिखा हो। वाल्मीकीय और अध्यात्म आदिके अनुसार दधिमुखसे सुग्रीवने उनको तुरंत भेजनेको कहा है। वह क्षणभरमें वहाँ पहुँच गया और उनसे सँदेसा कहा। यथा—**'प्रहृष्टो मां पितृव्यस्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः॥ शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तानिति होवाच पार्थिवः।'** (वाल्मी० ५। ६४। ११-१२) दधिमुखने अङ्गदजीसे कहा—'आपके चाचा कपिराज सुग्रीवजीने अत्यन्त प्रसन्न हो मुझसे कहा है कि समस्त वानरोंको शीघ्र मेरे पास भेज दो।', अतः वे सब तुरंत गये। अथवा यह भी हो सकता है कि अङ्गदादिने यह विचारकर कि दधिमुख आदि सुग्रीवजीसे शिकायत करने गये हैं वा थे। प्रथम उन्हींके पास चलना उचित है, उनके पास गये।]

टिप्पणी—३—यहाँ *'नावा'* एकवचन पद देकर जनाया कि प्रत्येक वानरने आकर प्रणाम किया। पर 'जब एक-एकसे मिले तो बहुत देर लगी होगी?' यह शंका होती है, क्योंकि यहाँ इसका समाधान कवि या वक्ताने नहीं किया, जैसे रामजीसे मिलनेपर किया है; यथा—*'यह नहिं कछु प्रभुकै अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई॥'* इसका समाधान यह है कि जिनको राजासे मिलनेका अधिकार था वे ही

भीतर गये यहाँ राजा बैठे थे, राजा उन सबसे मिले, सब सेना भीतर नहीं जा सकती। नील, नल, अङ्गद, हनुमान्, जाम्बवन्त आदि गये।

नोट—२ मा० त० सु०—कारका मत है कि यद्यपि श्रीसुग्रीवजी महलमें थे तो भी वानर रक्षकोंके आनेपर वे बाहर दरबारमें आ वनध्वंस सुनकर विचार करने लगे। इतनेहीमें सब आ गये। समूहमें आदरदृष्टिसे देखना और कुशल-प्रश्न करना यही मिलना है। प्रत्येक व्यक्तिसे एक साथ मिलना, यह तो ईश्वरहीका धर्म है, जीवका नहीं; यथा—*'छनमहँ सबहि मिले भगवाना॥'* (७। ६)—(यहाँ *'सबन्हि'* का प्रणाम करना और *'सबन्हि'* से मिलना लिखकर, केवल कुछसे मिलनेका निषेध किया है)।

नोट—३ *'पूँछी कुसल कुसल पद देखी'* इति। कुशल पूछना शिष्टाचार है यथा—*'पूँछी कुसल निकट बैठाई॥ नाथ कुसल पद पंकज देखे॥'* (२। ८८) (श्रीरामजीने निषादराजसे पूछा), *'रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा॥'* (२। १९५), *'कुसलमूल पद पंकज पेखी।'*, *'पूँछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पद कंज।'* (५। २९), *'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥'* (५। ४६), *'बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि''''।'* (७। ५) इत्यादि। दूसरे यह रीति अब भी देखनेमें आती है कि किसी दुर्गम कार्यके लिये जब कोई जाता है तब उसके लौटनेपर पूछते हैं—'कहो कुशल तो है?' जिसका आशय यह है कि कार्य कुशलतापूर्वक सिद्ध हो गया? मधुवनका उजाड़ना सुन सुग्रीवके मनमें जो अनुमान उठ रहे थे उनकी शीघ्र पुष्टिके लिये ऐसा प्रश्न उचित ही था।

मा० त० सु०—*'कुसल पद देखी'* यह उत्तर सुग्रीवके *'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाए। आवइ बनिहि सो मोहि मराए॥'* (४। २२) इस वचनपर लक्ष्य करके कहा। तात्पर्य कि कुशल न रहता तो चरणोंका दर्शन कैसे करते? फिर उनके अभिप्रायको लखकर स्पष्ट कहा कि *'रामकृपा'''''*।

टिप्पणी—४ *'रामकृपा भा काजु बिसेषी'* इति। (क) अर्थात् सब कार्य हो गया। [*'काज बिसेषी'* से यह भी सूचित किया कि श्रीहनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं। मुख्य कार्यको प्रथम करके जो दूत और भी कई एक कार्योंको, जिनसे शत्रुके बलाबलका ठीक विचार किया जा सके, करके आवे वही दूत वास्तवमें दौत्यकर्मयोग्य और स्वामीके आदेशका यथावत् पालन करनेवाला कहा जा सकता है। यथा—**'कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे या बहून्यपि साधयेत्। पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति॥''''परात्मसंमर्दविशेषतत्त्ववित्ततः कृतं स्यान्मम भर्तृशासनम्॥'** (वाल्मी० ५। ४१। ५—७)] यथा—*'प्रभुकी कृपा भयउ सब काजू'*—[सुग्रीवजीकी आज्ञा थी—*'रामकाजु''''। जनकसुता कहँ खोजहु जाई।'* (४। २२), *'रामचंद्र कर काजु सँवारेहु॥'* (४। २३) और श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे कहा था कि—*'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥'* (४। २३) तथा जामवन्तजीने कहा था कि *'सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥'* (४। ३०) इसके अनुसार *'काजु'* केवल इतना ही था, श्रीसीताजीको खोजना, उनका दर्शन करके मुद्रिका देना, प्रभुका बल, विरह आदि कहना तथा प्रबोध करना और शीघ्र लौट आना। वह सब 'काज' विशेषरूपसे हो गया और कुछ कार्य विशेष भी हुआ जिसके लिये स्पष्ट कहा नहीं गया था। अशोकवन-विध्वंस करना, अक्षकुमार आदि सेनापतियों एवं राक्षसोंको मारना, लङ्कापुरीको जलाना इत्यादि विशेष कार्य हैं। (ख)—यहाँ वानरोंने रामकार्य होनेमें *'रामकृपा'* को ही कारण कहा। उन्होंने श्रीरामकृपाका अनुभव बराबर किया है—प्याससे सब मरने लगे तब स्वयंप्रभाके दर्शन हुए जिसने समुद्रतटपर पहुँचाया; मरण निश्चय कर *'बैठे कपि सब दर्भ डसाई।'*, तब सम्पाती मिला; उससे श्रीसीताजीका पता और आशीर्वाद मिला—*'बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि॥'* (४। २७) हनुमान्‌जीको श्रीरामकृपाका पूर्ण अनुभव सुन्दरकाण्डमें पूर्व बराबर टीकामें दिखाया ही गया है जब-जब वे असमंजसमें पड़े। विभीषणजीका मिलना, त्रिजटाका स्वप्न और राक्षसियोंका हट जाना, नागपाशके मिष रावणतक पहुँचना, राक्षसोंहीद्वारा स्वयं उनके नाशका और लंकादहनका उपाय रचा जाना; स्वयं न जलना और न अशोकवाटिकाका जलना—इत्यादि सब रामकृपासे हुए। अतः उन्होंने सत्य ही कहा। पुनः, रामकृपासे हुआ कहनेका भाव कि रामकार्य सब स्वयंसिद्ध हैं, हम लोगोंके करनेसे उनकी सिद्धि नहीं

हुई, किन्तु उन्होंने हमको कृपा करके कार्य सौंपकर हमें मान दिया। यथा—*'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियउ॥'* (६। १७, अङ्गदवाक्य), *'जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।''''तासु सुजसु त्रैलोक उजागर।'*; बिना प्रभुकी कृपाके कार्य सिद्ध न होता।] सुग्रीवसे यह न कहा कि आपकी कृपासे सब काम हुआ, क्योंकि यदि वे ऐसा कहते तो सुग्रीव नाराज होते कि श्रीरामजीको छोड़कर हमको क्यों कहा? कारण कि वे सब कार्योंकी सिद्धि श्रीरामकृपासे ही मानते-जानते हैं। उनको सब कामोंमें रामकृपाका ही भरोसा रहता है; यथा—*'उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयो अलोला॥'*, *'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥'*, *'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'* (ग)—सुग्रीवके सम्मान-हेतु 'चरणोंको देखकर कुशल है' ऐसा कहा। यथा—*'कुसलमूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥'*—(निषादराज) (घ) सुग्रीवका तन, मन, वचन वानरोंमें लगा हुआ है—*'मिले सबन्हि अति प्रीति कपीसा'* यह तन, *'एहि बिधि मन बिचार कर राजा'* यह मन, *'पूछी कुसल'* वचन हैं।

नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥ ५॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ। कपिन्ह सहित रघुपति पहिं चलेऊ*॥ ६॥

अर्थ—(जाम्बवन्तजीने कहा—) हे नाथ! सब कार्य हनुमान्‌जीने ही किया और सब वानरोंके प्राणोंकी रक्षा की॥ ५॥ यह सुनकर सुग्रीवजी श्रीहनुमान्‌जीसे फिर मिले और वानरोंसमेत श्रीरघुनाथजीके पास चले॥ ६॥

नोट—१ दक्षिण जो समाज गया था उसमें सबसे वृद्ध जाम्बवान् ही थे। वे ब्रह्माके अंशावतार और सुग्रीवजीके मन्त्री भी हैं। यह कथन उन्हींका जान पड़ता है। आगे श्रीरघुनाथजीके समीप पहुँचनेपर ये ही बोले हैं, यद्यपि सुग्रीवजी साथ हैं। अतएव यहाँ भी इन्हींके वचन समझना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि *'रामकृपा भा काजु बिसेषी।'* इस कथनसे फिर भी पूछनेकी अपेक्षा बाकी रही कि कौन कृपापात्र है, जिसके द्वारा कार्य हुआ? उसीपर कहते हैं कि *'नाथ काज''''*' अर्थात् इस कार्यसाधनके यशके पात्र श्रीहनुमान्‌जी ही हैं, ये ही वह परम कृपापात्र हैं जिन्होंने वह कार्य किया। (ख)—*'राखे सकल''''*' इति। (अर्थात् केवल रामकार्य ही नहीं किया, किंतु हमारे प्राण भी बचाये। हम सब भी इनके कृतज्ञ हैं, इनसे उऋण नहीं हो सकते।) सबका जीवन रामकार्यकी सिद्धिके अधीन था। यही बात आगे फिर जाम्बवन्तजी श्रीरघुनाथजीसे कहेंगे, यथा—*'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया।'* से *'पवन तनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥'* तक। सुग्रीवजीकी प्रतिज्ञा थी कि *'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवै बनिहि सो मोहि मराये॥'* सो उसका संयोग आ बना था, अवधि बीत गयी थी, पता न लगा था, अतः सबके प्राण गये ही थे; पर इन्होंने इससे बचा लिया। अतः कहा कि *'राखे सकल''''।'* पुनः *'राखे प्राना'*, यथा—*'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जल पाना॥'* (४। २४), वहाँ जल पिलाकर प्राण बचाये थे और रामकाज होनेसे जन्मका सफल होना श्रीरामजीसे कहेंगे। यथा—*'प्रभुकी कृपा भयउ सब काजू। जनम हमार सुफल भा आजू॥'* ☞ यहाँ उपदेश है कि श्रीरामजीका कैंकर्य (सेवा) करनेसे जन्म सुफल होता है। यही उपदेश सुग्रीवजीने प्रथम दिया था, यथा—*'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥'* (४। २३) *'भज सेवायाम्।'* इस उपदेशका अनुसरण यहाँ दिखाया।

टिप्पणी—२ (क) *'बहुरि तेहि मिलेऊ'* इति। पुनः मिलना कार्य करनेका उपकार मानकर हुआ। इससे यह जनाया कि सब वानर प्रिय हैं। प्रिय होनेसे लोग हृदयसे लगाते हैं। हनुमान्‌जी सबसे अधिक प्रिय हैं; इससे इन्हें दो बार हृदयसे लगाया। यदि उनसे पुनः न मिलते तो कृतघ्नता पायी जाती। [पुनः, *'बहुरि मिलेऊ'* क्योंकि कार्यसिद्धि करके अपने वचन—*'सो सीता कर खोज कराइहि'*—सत्य करके हमारी प्रतिष्ठा बढ़ायी और हमारी प्रतिज्ञाको भी सत्य किया *'मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी'*, *'सब प्रकार करिहौं सेवकाई''''*'—इस प्रकार हमको कृतघ्नतासे बचा लिया। इसी प्रकार पहले भी हमको बचाया था, जब हम विषयमें मग्न हो गये

* 'सुनि''''' पायकुलक, 'कपिन्ह''''' मनिगुन है। (ब्र० चं०)

थे। यथा—*'रामकाज सुग्रीव बिसारी'।* और मित्रने जो कहा था कि *'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।',* उस पापसे बचा लिया। अतएव कृतज्ञतापूर्वक मिले। (मा० त० सु०) (ख)—*'रघुपति पहिं चलेऊ'* से जनाया कि पैदल गये। जैसे सब वानर अपनी-अपनी सेनासहित अपने स्वामी श्रीसुग्रीवजीसे मिलने आये थे-*'आइ गए कपि सहित समाजा॥'* वैसे ही सुग्रीवजी सबके सहित अपने स्वामी श्रीरघुनाथजीसे मिलनेको चले। यथा-*'हरषि चले सुग्रीव तब अङ्गदादि कपि साथ। रामानुज आगे करि आए जहँ रघुनाथ॥'* (४। २०) (इस प्रकार पूर्व श्रीरघुनाथजीके पास श्रीलक्ष्मणजीके साथ गये थे। तात्पर्य यह कि वानरोंके राजा सुग्रीव हैं और कपिपतिके राजा रघुपति। *'कपिन्ह सहित'* से जनाया कि सुग्रीवजी आगे हैं।)

राम कपिन्ह जब आवत देखा। किए काजु मन हरष बिसेषा॥ ७॥
फटिकसिला बैठे द्वौ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई॥ ८॥
दो०—प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।
पूँछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पद कंज*॥ २९॥

अर्थ—जब श्रीरामचन्द्रजीने वानरोंको कार्य किये हुए मनमें विशेष आनन्दित आते देखा तब उनके मनमें विशेष हर्ष हुआ॥ ७॥ (गुफा या पर्णशालासे निकलकर) दोनों भाई स्फटिकशिलापर (आकर) बैठे। सब वानर जाकर श्रीरामजीके चरणोंपर गिर पड़े॥ ८॥ करुणाके समूह श्रीरघुनाथजी सबको प्रीतिसहित हृदयसे लगाकर भेंटे और कुशल पूछी। (उन्होंने कहा—) हे नाथ! आपके चरणकमलके दर्शन पानेसे अब कुशल है॥ २९॥

टिप्पणी—१ *'राम कपिन्ह जब आवत देखा'''''।'* इति (क)—कार्यसिद्धि होनेसे सबको ऐसा ही हर्ष हुआ है, यथा—*'हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना,* *'सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभुकाज॥'* तथा यहाँ *'किए काजु मन हरष बिसेषा।'* (ख) श्रीरामजी वानरोंकी राह देखते रहे कि कब वे आवें और जानकीजीका समाचार मिले। इसीसे रामजीका प्रथम देखना लिखते हैं—*'आवत देखी'* वानरोंका उन्हें देखना नहीं लिखा। (ग) *'हरष बिसेषा'* का भाव कि रामजी आनन्दमूर्ति हैं, उन्हें सदा हर्ष रहता है, अब कार्यसिद्धिसे माधुर्यमें उन्हें विशेष हर्ष है।

नोट—१ यहाँ *'मन हरष बिसेषा'* वानरों और श्रीरामजी दोनोंमें लगता है। यह अर्थ उत्तम और विशेष ठीक है। (कि० २४। ९) *'जानि काज'''''* उपक्रम है और यहाँ *'किए काजु'''''* उपसंहार है।

टिप्पणी—२ (क) फटिकशिलापर बैठे जिसमें सबसे भेंट करते बने। दूसरे, यहाँ बैठनेसे यह भी जनाया कि इस समय सावकाशसे बैठे हैं, इस समय उनसे मिलनेका मौका है। यथा—*'सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनकराज रनिवासू॥'* (२। २८१) शिष्ट लोग सावकाश देखकर दूसरेके पास आते-जाते हैं। पुनः, इससे यह भी ज्ञात होता है कि वानर श्रीरामजीके पास पहरभर दिन रहे पहुँचे थे। प्रायः सब नित्य-कृत्यसे सावकाश होकर पहरभर दिन रहे श्रीरामजी बैठा करते हैं, यथा—*'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्राम। बैठे प्रभु भ्रातासहित दिवस रहा भरि जाम॥'* (बा० २१७) [प्रथम श्रीरामजीका वानरोंको देखना कहा तब दोनों भाइयोंका फटिकशिलापर बैठना कहकर जनाते हैं कि हर्षमें गर्जन करते हुए आये थे, ध्वनि सुनकर श्रीरामजीने देखा कि यहीं आ रहे हैं, अतः बाहर आकर बैठे। वाल्मीकीय और अध्यात्म आदि रामायणोंमें कथामें अन्तर है। वहाँ सुग्रीवजी श्रीरामलक्ष्मणजीके पास ही बैठे थे जब ये सब वानर आये; यथा—**'निपेतुर्हरिराजस्य समीपे राघवस्य च।'** (वाल्मी० ५। ६४। ४०), **'रामसुग्रीवयोरग्रे निपेतुर्भुवि सत्वरम्॥'** (अध्यात्म० ५। ५। ३५)] (ख) *'परे सकल कपि चरनन्हि'* इति।' *'परे'* से जनाया कि लेटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् की। सब वानरोंने सुग्रीवजीके चरणोंमें मस्तक नवाया था, यथा—*'आइ सबन्हि नावा पद सीसा।'* और श्रीरामचन्द्रजीको सबने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, यह विशेषता है।

---

* ब्र० चं०—(७) (८) पायकुलक; २९ दोहरा है।

पुनः, सुग्रीवके चरणोंके लिये *'कंज'* विशेषण नहीं दिया और यहाँ *'पदकंज'* कहा, यह विशेषता है। पुनः, जब यहाँसे गये थे तब व्यग्रचित्त थे, इससे उस समय आतुरतामें केवल मस्तक नवाकर चले गये थे—*'आयसु माँगि चरन सिरु नाई'*; और अब स्वस्थचित्त हैं, अतः अब साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। (ग) *'चरनन्हि जाई'* कहा। *'जाई'* पदसे दरसाया कि कविकी बुद्धि सेवकोंके साथ है, रामजीके साथ होती तो *'आई'* कहते। वे अपनेको श्रीहनुमान्‌जी आदिके साथ जना रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'प्रीति सहित सब भेंटे·····'* इति। (क) प्रीतिसहित भेंट की, क्योंकि सबको अपना मानते हैं; यथा—*'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे॥'* (७। ८। ७) [पुनः, सबका मन रामकार्यमें लवलीन रहा है, यथा—*'रामकाज लवलीन मन बिसरा तनकर छोह॥'* (४। २३) उसपर भी कार्य करके आये हैं, प्राणप्रिया श्रीजनकनन्दिनीजीका समाचार लाये हैं और सेवक श्रीसरकारको अतिप्रिय है ही, यह स्वयं उन्होंने श्रीमुखसे कहा है—*'मोरे अधिक दासपर प्रीती।'* (७। १५), *'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।'* (७। ८६)—अतएव *'प्रीतिसहित भेंटे'।* पुनः *'प्रीतिसहित'* भेंटका कारण कवि स्वयं बतलाते हैं कि वे *'रघुपति'* (जीवमात्रके एवं रघुकुलके स्वामी) हैं और *'करुनापुंज'* हैं।] (ख) *'सब भेंटे'।* लाखों वानरोंसे एक ही साथ कैसे मिले? इसका समाधान वक्ता पहले ही कर आये हैं; वही समाधान यहाँ भी कर लें। भगवान् राम शक्तिमान् हैं। जितने वानर-भालू आये हैं उतने ही रूप धारणकर उन सबोंसे एक साथ एक ही समय क्षणमात्रमें प्रभुने भेंट कर ली। यहाँ उनका ऐश्वर्य दिखाया है। यथा—*'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं॥ यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्वरूप व्यापक रघुराई॥'* (४। २२) तथा *'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा॥'* (५। २९। ३) देखिये पुनः यथा—*'प्रेमातुर सब लोग निहारी। अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥'* (७। ६)' (ग) *'करुनापुंज'* का भाव कि जो मुनियोंको ध्यानमें भी दुर्लभ हैं वे ही वानरोंसे भेंट कर रहे हैं। भेंटमें करुणा ही प्रधान है, यथा—*'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥'* (६। ११६) (घ) *'कुसल देखि पद'* यथा—*'अब पद देखि कुसल रघुराया॥'* (दोहा २९। ४ देखिये।)

प० प० प्र०—दोहेके प्रथम चरणमें एक मात्रा कम रखकर जनाया कि श्रीरघुनाथजी सत्त्वभावापन्न हो गये इस भावकी पुष्टि *'करुनापुंज'* शब्दसे होती है। यह भाव दरसानेके लिये जान-बूझकर मात्रा कम की गयी, नहीं तो *'भेंटेउ'* लिखकर मात्रा पूरी कर सकते थे। *'पुंज'-'कंज'* यह तुकान्तकी विषमता भी आश्चर्यका भाव प्रकट करती है। *'प्रभु तरुतर कपि डारपर ते किय आपु समान॥'* (१। २९) यह वचन यहाँ चरितार्थ किया गया।

'चले हरषि रघुनायक पासा।' (२८। ६) से यहाँतक *'आये कपि सब जहँ रघुराई'* यह प्रकरण है।

'बैदेही कै कुसल सुनाई'—प्रकरण

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया॥ १॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥ २॥
सोई बिजई बिनई गुनसागर। तासु सुजसु त्रैलोक उजागर*॥ ३॥

अर्थ—जाम्बवन्तजी कहते हैं—हे रघुराज! सुनिये। हे नाथ! जिसपर आप कृपा करें॥ १॥ उसको सदा ही कल्याण है और निरन्तर उसकी कुशल है। सुर, नर, मुनि सभी उसपर निरन्तर प्रसन्न रहते हैं। २। वही विजयी है, वही विनयी और गुणसागर है, उसीपर सुयश तीनों लोकोंमें प्रकाशित रहता है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'जामवंत कह'।* यहाँ जाम्बवान्‌जीका नाम कहकर जनाया कि पूर्व जो *'कुसल देखि पदकंज'* कहा गया, वह सब वानरोंकी उक्ति है और यह जाम्बवन्तजीकी उक्ति है। यहाँ जाम्बवन्तजीकी

* (१) पायकुलक, फिर क्रमसे १२११, १०, ४२, ११५७ वाँ भेद और पंक अवली हैं। (ब्र० चं०)

उक्ति कहकर यह भी जनाया कि सुग्रीवसे भी जो वचन कहे गये थे कि *'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना'* वह भी इन्हींकी उक्ति थी। (ख) *'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया'* अर्थात् हम सबोंपर आपकी दया है। आपने करुणा करके हम सबोंको हृदयसे लगाया और कुशल पूछा, यही दया है।

प० प० प्र०—*'सुनु'* एकवचन है पर आगे *'करहु' 'तुम्ह'* बहुवचनके प्रयोग हैं। श्रीरामजी *'प्रीति सहित सब भेंटे'* थे, इससे सब आनन्दविभोर हो गये। उस आनन्दमें भेदभाव नहीं रह गया—*'ते किये आपु समान।'* समान प्रेमी मित्र परस्पर भाषणमें एकवचनका उपयोग करते हैं। [पर पीछे अपनी चूक समझ गये; सावधान हो गये। श्रीशङ्करजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभरतजी और श्रीलक्ष्मणजी बड़े सावधान रहते हैं। यथा—*'आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत।'* (वि० २५१) शरभङ्गजीने भी ऐसा ही प्रयोग किया है। यथा—*'कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला।'.....'तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी॥'* (३। ८। १, ६) [*'सुनु'* का प्रयोग अनेक स्थानोंमें आया है। यथा—*'सुनु सर्बग्य कृपा सुखसिंधो।'* (७। १८। १), *'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।'* (३। ११। १) इत्यादि प्रेमी पाठक विचार करें।]

टिप्पणी—२ *'ताहि सदा सुभ.....'* इति। (क) तात्पर्य कि आपकी दयाका फल 'सदा शुभ और निरन्तर कुशल' है और किसीकी दयासे सदा शुभ और निरन्तर कुशल नहीं हो सकती। यथा—*'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'* (४। १२) (यहाँ निरन्तरसे तात्पर्य 'प्रतिक्षण' वा 'किसी समय अन्तर न पड़नेवाला' से है। कोई 'शुभ' को 'कुशल' का विशेषण मानते हैं अर्थात् शुभकुशल=पारमार्थिक कुशल)। (ख) जब सुर, नर आदिकी स्वार्थसिद्धि न हुई तो वे प्रसन्न नहीं रहते; पर आपकी दया होनेसे ये सब भी प्रसन्न हो जाते हैं। यथा—*'सीतापति सनमुख सुखी सब ठायँ समातो। राम सुहाते तोहि जौं तू सबहि सुहातो। काल करमकुल कारनी कोऊ न कोहातो॥'.....'होतो मंगल मूल तू अनुकूल बिधातो।'* (विनय० १५१), *'जा पर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करइ सब कोई॥'* सुर, नर, मुनि—इन तीनकी प्रसन्नतासे मनुष्य तीन ऋणसे छूट जाता है। अथवा *'सुर मुनि'* से जनाया कि तीनों गुणोंवाले जीव प्रसन्न रहते हैं—सुरसे रजोगुणी, नरसे तमोगुणी और मुनिसे सतोगुणी।

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जीपर श्रीरामजीकी कृपा हुई थी। उन्हींको *'जानि काज प्रभु निकट बोलावा। परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥'* इत्यादि। उसीपर लक्ष्य करके जाम्बवन्तजीने ये वचन कहे हैं। वहाँसे *'जनजानी'* और यहाँके *'करहु तुम्ह दाया'* से जनाया कि जिसे आप जन जानकर शरणमें लेते हैं वह तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। यथा—'**देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥**' (भा० ११। ५। ४१) अर्थात् हे राजन्! जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्ण रूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरण जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीका भी दास वा ऋणी नहीं रह जाता।

टिप्पणी—३ *'सोइ बिजई'* इति। (क) विजयकी शोभा विनयसे है और गुणकी शोभा यशसे; अतएव क्रमसे कहा। पुनः विजयी, विनयी कहकर गुणसागर कहनेका भाव कि वह विजयी और विनयी ही नहीं वरन् सब गुणोंसे पूर्ण हो जाता है। तात्पर्य यह कि हनुमान्‌जीपर आपकी दया हुई, इससे वे सर्वगुणसम्पन्न हो गये। (ख) जो-जो गुण देख रहे हैं वही-वही यहाँ कहते हैं—हनुमान्‌जीने लङ्कामें सबपर विजय पायी, अतः *'बिजई'* कहा। विजयसे अभिमान हो जाता है, पर इनको अभिमान नहीं है, इनमें विशेष नम्रता है; अतः *'बिनई'* कहा। तीनों लोकोंमें इनके लङ्कादहन आदि कर्मोंसे उज्ज्वल यश दीप्तिमान् है, अतः *'त्रैलोक उजागर'* कहा। यथा—'**ततस्तु तं वानरवीरमुख्यं महाबलं मारुततुल्यवेगम्। महामतिं वायुसुतं वरिष्ठं प्रतुष्टुवुर्देवगणाश्च सर्वे॥'''देवाश्च सर्वे मुनिपुङ्गवाश्च गन्धर्वविद्याधरकिन्नराश्च। भूतानि सर्वाणि महान्ति तत्र जग्मुः परां प्रीतिमतुल्यरूपाम्॥**' (वाल्मी० ५। ५४। ४८—५१) पुनश्च—'**अहो खलु कृतं दुष्करं हि हनूमता।**' (५। ५५। ३१)—देव, मुनि, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर, चारण आदि सभी लङ्कादहनपर हनुमान्‌जीकी प्रशंसा कर

रहे थे। मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लङ्किनी आदिके सम्बन्धमें इनके बल, बुद्धि, शील आदि देखे; अतः 'गुणसागर' कहा।

मा० त० सु०—**बिजई**=विश्वविजेता। यथा—*'महा अजय संसाररिपु जीति सकै सो बीर।'* (६। ७९) *'बिनई'* यथा—*'सोइ पंडित सोइ पारखी सोई संत सुजान। सोई सूर सचेत सो सोई सुभट प्रमान॥'*—(वै० सं०)

प० प० प्र०—इस अर्धालीका भाव *'दोउ बिजई बिनई गुन मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥'* (७। २५। ७) इस चौपाईसे प्रकट हो जाता है। लव और कुश दोनोंको जैसे *'बिजई, बिनई, गुन-मंदिर'* कहा वैसे ही यहाँ हनुमान्‌जीको ये तीनों विशेषण देकर जनाया कि ये भी मानो हरि-प्रतिबिम्ब ही हैं, आपका ही दूसरा रूप है।

प्रभु की कृपा भयउ सबु काजू। जन्म हमार सुफल भा आजू॥ ४॥
नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥ ५॥
पवनतनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए*॥ ६॥

अर्थ—प्रभु (आप) की कृपासे सब कार्य हुआ। आज हमारा जन्म सफल हुआ॥ ४॥ हे नाथ! पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीने जो करनी की वह हजारों मुखोंसे एवं जिनके हजार मुख हैं उन शेषजीसे भी वर्णन नहीं की जा सकती॥ ५॥ जाम्बवन्तजीने पवनपुत्रके सुन्दर चरित रघुपति श्रीरामजीको सुनाये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभु की कृपा'* का भाव यह कि आप प्रभु अर्थात् समर्थ हैं; अतः आपकी कृपासे कार्य हुआ, नहीं तो हमारे किये न हो सकता। 'हममें इसके करनेकी योग्यता न थी' यही जनानेके लिये दोनों जगह प्रभुकी कृपाको ही प्रधान रखा—*'राम कृपा भा काज बिसेषी'* और *'प्रभु की कृपा"""।'* विशेष २९ (४) में देखिये। (ख) *'सबु काजू'* सीताजीकी सुध मिली, शत्रुका अभिमान भङ्ग हुआ, शत्रुकी सेना मारी गयी, लङ्कादहन इत्यादि। २९ (४) देखिये। (ग) *'जन्म हमार'* अर्थात् हम सब वानरोंको सुग्रीवजीने उपदेश दिया था कि *'देह धरे कर यह फलु भाई।"""'* उसीके अनुसार अब रामकार्य करनेपर हम सब अपने जन्मकी सफलता मानते हैं। (घ) *'भा आजू।'* आज सफल होना कहा; क्योंकि कार्य करके आज आकर स्वामीसे निवेदन किया (नोट—प्रभुने कहा था कि *'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु।'* 'आना' और 'समाचार कहना' यह आज ही हुआ, यह काम बाकी था सो आज हुआ। अतः *'सफल भा आजू'* कहा)।

प० प० प्र०—उपदेश—भगवान्‌का कार्य तो उनकी कृपा, उनका प्रताप ही करता है। पर सेवक निमित्तमात्र बनकर अपना जन्म सफल कर लेते हैं और अनायास ही सुयशको प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—२ *'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी'* इति। (क) इस कथनसे भक्तके चरित्रकी अनन्तता दिखाकर उसको यथामति कहते हैं। (ख) *'करनी'* के सम्बन्धसे *'पवनसुत'* कहा। *'करनी'* बलसे होती है, पवन बलवान् हैं और ये उनके पुत्र हैं—*'पवनतनय बल पवन समाना'*। **करनी**=पुरुषार्थ; यथा—*'सुनि संपाति बंधु कै करनी'* (४। ४७), *'करहिं भालु कपि अदभुत करनी'* (६। ४६), *'जूझे सकल सुभट कै करनी'* (१। १७५) तथा यहाँ (ग) *'सहसहुँ मुख'* अर्थात् शेषजी। यहाँ प्रभुका पराक्रम दासके पराक्रमसे अधिक जनानेके लिये *'सहसमुख'* कहा, क्योंकि पहले कहा है कि प्रभुकी कृपासे सब कार्य हुआ, अतएव प्रभुका पराक्रम अधिक हुआ ही चाहे। प्रभुके चरितके सम्बन्धमें 'शत सहस शेष' कहा है; यथा—*'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई॥'* (५। ५६) अतएव पवनसुत की करनीके सम्बन्धमें केवल *'सहसहुँ मुख'* कहा।

टिप्पणी—३—*'पवनतनय के चरित सुहाए"""।'* इति। (क) यहाँ रुद्रावतार हनुमान्‌जीके चरित्र हैं, ब्रह्मावतार जाम्बवान्‌जी वक्ता हैं और भगवान् श्रोता हैं। जैसे श्रोता, वैसे ही वक्ता और वैसा ही चरित है, सब यथायोग्यका सम्बोधन जुट गया है। यथा—*'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़।'* (१। ३०)

* (४), (५), (६), (७) पायकुलक—(ब्र० चं०)।

जैसे रामचरित गूढ़, वैसे ही भक्तचरित गूढ़। [(ख) मा० त० सु० *'सुहाए'* का भाव कि प्रथम ही यात्रामें प्रभुकी कार्यसिद्धि, शत्रुमानमर्दन इत्यादि अपूर्व यश प्राप्त हुआ, अतएव चरित सुन्दर हुआ]। (ग) *'जामवंत रघुपतिहि सुनाए।'* अपना पुरुषार्थ अपने मुखसे कहनेमें हनुमान्‌जीको संकोच होता है; अतः जाम्बवन्तजीने सुनाया। ये सुन चुके हैं। इन सबोंके पूछनेपर उन्होंने कहा था, यथा—*'पूछत कहत नवल इतिहासा।'*

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—किष्किन्धाकाण्डके २९। ३ अर्थात्—*'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥'* से लेकर यहाँतक हनुमच्चरित है। इसके वक्ता जाम्बवन्तजी तथा श्रोता साक्षात् रामजी हैं। प्रवर्षणगिरिपर कथा हुई। अत्यन्त संकटके समय ही इसके अनुष्ठानका विधान है, नहीं तो मनोरथ-सिद्धिके लिये किष्किन्धाकाण्ड यथेष्ट है।

सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हिय लाए॥ ७॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की*॥ ८॥

अर्थ—(श्रीपवनतनयके सुन्दर चरित) सुनते ही वे (चरित और चरितनायक हनुमान्‌जी) कृपासागर श्रीरामजीके मनको अत्यन्त भले (प्रिय) लगे। उन्होंने हर्षित होकर पुनः श्रीहनुमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया॥ ७॥ प्रभुने कहा कि हे तात! कहो; जानकी किस प्रकार रहती और अपने प्राणोंकी रक्षा करती हैं? (अर्थात् ये दोनों बातें असम्भव-सी जान पड़ती हैं)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनत कृपानिधि·····'* इति। पुनः हृदयसे लगाया, यह कृपा है; अतः *'कृपानिधि'* विशेषण दिया। *'कृपानिधि'* इससे भी कहा कि *'स्वयंसिद्ध सब काज'* हैं फिर भी दासोंको ही बड़ाई देते हैं। यथा—*'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूँछेहु रघुराई॥'* (३। १३) (ख) *'पुनि'* अर्थात् एक बार सब वानरोंके साथ आनेपर ही मिल चुके थे, अब उपकार मानकर पुनः मिले, संजीवनी-बूटी लानेपर कहा है कि प्रभु अत्यन्त कृतज्ञ हैं, इसीसे कार्य कर लानेपर वे हनुमान्‌जीको हृदयसे लगाकर भेंटे, यथा—*'हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥'* (६। ६१) (ग) प्रथम जब सब वानरोंके साथ भेंट की तब प्रभुको *'करुनापुंज'* कहा था—*'प्रीतिसहित सब भेटे रघुपति करुनापुंज।'* और जब यहाँ पृथक् भेंट की, तब *'कृपानिधि'* कहा। इस भेदका तात्पर्य यह है कि और सबोंसे इनपर कृपा अधिक है, जैसे *'पुंज'* से *'समुद्र'* विशेष है। (घ) *'अति भाए'* का भाव कि अपना चरित (जो जाम्बवन्तजीने कहा था—*'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया'* से *'जन्म हमार सुफल भा आजू'* तक वह) 'भाया' और हनुमच्चरित (*'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी'* इत्यादि) 'अति' भाया। जैसे हनुमान्‌जीको रामचरित *'अति भाया'* था। यथा—*'जामवंतके बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥'* (५। १) ☞ यहाँ स्वामी-सेवककी अन्योन्य प्रीति दिखायी है। जाम्बवान्‌जीके वचन ऐसे हैं कि श्रोताको *'अति'* भाते हैं। पूर्व हनुमान्‌जीसे वचन कहे थे जो उनको *'अति भाए'* और यहाँ श्रीरघुनाथजीसे कहे जो इनको *'अति भाए'*। दोनों जगहका मिलान—

जामवंतके बचन सुहाये	*१ पवनतनयके चरित सुहाये*
सुनि हनुमंत हृदय अति भाये	*२ सुनत कृपानिधि मन अति भाये*
चले हरषि हिय धरि रघुनाथा	*३ पुनि हनुमान हरषि हिय लाये*

[श्रीहनुमान्‌जी *'अति भाए'* ऐसा अर्थ लेनेसे भाव यह होगा कि *'भाए'* तो पूर्व ही थे इसीसे निकट बुलाकर इनके सिरपर हाथ रखा था और मुद्रिका देकर संदेशा कहा था। यथा—*'जानि काज प्रभु निकट बोलावा। परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी·····॥'* (४। २३। ९—११) अब कार्य कर लाये, अतः *'अति भाए'*।]

(ङ) हनुमान्‌जी सीताजीको देख आये हैं, अतः हृदयसे लगाकर उनका वृत्तान्त पूछा। यथा—*'भूप*

* 'कहहु·····' प्रियंवदा और 'रहति·····' पायकुलक भेद हैं। (ब्र० चं०)

सुमंत्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु आधार जनु पाई॥' (श्रीरामजीके पाससे आनेपर सुमन्तजीको राजाने हृदयसे लगा लिया था)।

टिप्पणी—२—वानर सुग्रीवजीसे मिले और श्रीरामजीसे भी। वानरोंसे मिलनेमें जो-जो बातें सुग्रीव तथा वानरोंके सम्बन्धमें कही गयी हैं वही सब यहाँ भी देखी जाती हैं। दोनोंका मिलान—

सुनि सुग्रीव हरष····कपि करि आये प्रभु काज	*१ राम कपिन्ह जब आवत····किए काजु मन हरष····।*
आइ सबन्हि नावा पद सीसा	*२ परे सकल कपि चरनन्हि जाई*
मिलेउ सबन्हि अति प्रीति	*३ प्रीतिसहित सब भेंटे रघुपति*
पूँछी कुसल कुसल पद देखी	*४ पूँछी कुसल····देखि पदकंज*
रामकृपा भा काज बिसेषी	*५ प्रभु की कृपा भयउ सब काजू*
नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना	*६ नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी*
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ	*७ पुनि हनुमान हरषि हिय लाए*

दोहा—☞ 'हरषु १ प्रणाम २ मिलब ३ अरु कुशल-प्रश्न ४ भा काज ५ *'काज कीन्ह हनुमान ६ पुनि बहुरि मिले दोउ राज॥ ७॥'*

नोट—१ *'चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।'* (४। २३) उपक्रम है और *'पुनि हनुमान हरषि हिय लाए।'* उपसंहार है। मा० त० सु० कार *'केहि भाँति'* को भी एक प्रश्न मानते हैं। किस दशामें हैं? अर्थात् मृतकावस्थामें तो नहीं देख आये? यथा—*एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महँ आनौं॥'* (४। १८); पर मेरी समझमें जाम्बवान्‌जीसे चरित सुन चुकनेपर ऐसा प्रश्न हो नहीं सकता।

टिप्पणी—३ (क) *'रहति करति रच्छा····'* इति। अर्थात् राक्षसोंके बीचमें देहका और धर्मका कैसे निर्वाह करती हैं? ऐसा ही विभीषणजीसे प्रभुने पूछा है, यथा—*'खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहै केहि भाँती॥'* (५। ४६) (ख) *'करति रच्छा स्वप्रान की'* का भाव यह कि वे तो अत्यन्त सुकुमारी हैं, श्रीअवधमें तो वे कहती थीं कि—*'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।'* (२। ६६) तो अब मेरे वियोगमें प्राणोंकी रक्षा क्योंकर कर रही हैं?

नोट—२ वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीसे उन्होंने पूछा है कि—**'कथं सा मम सुश्रोणी भीरुभीरुः सती तदा। भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम्॥ शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः। आवृतो वदनं तस्या न विराजति साम्प्रतम्॥'** (५। ६६। १२-१३) अर्थात् यह बतलाओ कि मेरी वह सुन्दरी और अत्यन्त भीरु सती सीताजी उन अत्यन्त भयंकर राक्षसोंके बीच किस प्रकार रहती हैं? राक्षसोंसे घिरी हुई उस सतीका मुखमण्डल मेघसे ढके हुए अन्धकारसे युक्त शरद्-चन्द्रके समान शोभायमान न होता होगा?—ये सब भाव *'रहति करति रच्छा····'* के हैं। काशीके एक संस्करणमें '**दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी**' यह प्रक्षिप्त अर्धश्लोक भी है।

दो०—नाम पाहरू दिवस निसि* ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥ ३०॥

शब्दार्थ—**जंत्रित**=निबद्ध, स्थापित, नियमित।

अर्थ—(पूछनेपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा) आपका नाम रात-दिनका पहरा देनेवाला (रक्षक) है, और आपका ध्यान ही किंवाड़े हैं। नेत्र अपने चरणोंमें लगाये हैं। (तब बताइये कि) प्राण किस मार्गसे निकल सकें? (भाव यह कि निरन्तर रात-दिन इसी दशामें बैठी रहती हैं—सिर नीचे किये हुए आपके ध्यानमें

* रात दिनु—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, ब्र० चं०, कोदवराम। दिवस निसि—१७०४, गी० प्रे०। हमको, 'दिवस निसि' पाठ अच्छा लगता है, इससे यही पाठ इस संस्करणमें दिया है। प्र० सं० में दोनों पाठ दिये थे। दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

निमग्न निरन्तर आपका नाम लेती रहती हैं। जब रात-दिन किंवाड़े लगे और जंजीर, कुंडी लगी रहे, उसपर भी रक्षक निरन्तर पहरा देते रहें, तब कोई कैसे निकल सकता है?)॥ ३०॥

नोट—१ वानर (श्रीहनुमान्‌जी) को देखकर श्रीजानकीजीकी बहुत विस्मित हो गयी थीं, उस समय उनके मनके विचार जो वाल्मीकिजीने दिये वह इस दोहेसे मिलते-जुलते हैं। यथा—'**स्वप्नोऽपि नायं न हि मेऽस्ति निद्रा शोकेन दुःखेन च पीडितायाः। सुखं हि मे नास्ति यतोऽस्मि हीना तेनेन्दुपूर्णप्रतिमाननेन॥ रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवति तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तमर्थमेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥ अहं हि तस्माद्य मनोभवेन संपीडिता तद्गतसर्वभावा। विचिन्तयन्ती सततं तमेव तथैव पश्यामि तथा शृणोमि॥**' अर्थात् मैं सो थोड़े ही रही हूँ जो स्वप्न देखती। मुझ दुःख और शोकसे पीड़िताको नींद कब आने लगी? निद्रा तो सुखी लोगोंको आती है। जबसे उन चन्द्रानन (श्रीरामजी) से वियोग हुआ तबसे मुझे सुख कैसा? इसका कारण तो यह जान पड़ता है कि मैं रात-दिन उनके ध्यानमें रहती हूँ और राम-राम यह निरन्तर रटा करती हूँ। इसीसे मुझे तदनुरूप ही देख और सुन पड़ता है। सदाकी भाँति आज भी उन्हींका ध्यान कर रही थी, मैं तो सदा उन्हींका ध्यान किया करती हूँ····।

नोट—२—गीतावलीमें वर्णित श्रीहनुमान्‌जीके वचनोंसे मिलान कीजिये। यथा—'***चित्रसे नयन अरु गढ़ेसे चरन कर मढ़ेसे श्रवन नहिं सुनति पुकारे। रसना रटति नाम कर सिर चिर रहै नित निज पद कमल निहारे। दरसन आस लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान रखवारे॥***' (५। १८), '***तुलसिदास जद्यपि निसि बासर छिन-छिन प्रभु मूरतिहि निहारति। मिटति न दुसह ताप तउ तनुकी यह बिचारि अंतर्गति हारति॥***' (५। १९)

नोट—३ गोस्वामीजीकी '***नाम पाहरू·····प्रान जाहिं केहि बाट***' इस उक्तिको गीतावलीमें दी हुई उक्तिसे मिलान कीजिये। कौशल्याजी राम-विरहसे व्याकुल हैं, पर मरती क्यों नहीं? इसका कारण कवि उन्हींके मुखसे यों सुना रहे हैं—'***लागेइ रहत मेरे नयननि आगे राम लखन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर की बिधि जो भयो बिपरीता॥ दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत तनु न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे॥***' (२। ५३। २-३)

☞ उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव इस दोहेमें भरे हुए हैं। सारांश यह है कि आप पूछते हैं कि वे कैसे जीती हैं? पर वास्तविक बात यह है कि आपके वियोग-विरहमें उनके प्राण निकल गये होते पर वे क्या करें? प्राणोंको निकलनेका रास्ता ही नहीं मिलता।

टिप्पणी १—जो दशा हनुमान्‌जीने देखी थी—'***बैठेहि बीति जात निसि जामा।***' से '***निज पद नयन दिए मन राम चरन महँ लीन॥***' (८)' तक, वही ज्यों-की-त्यों कह रहे हैं। '***दिवस निसि***' अर्थात् निरन्तर। तात्पर्य यह कि स्नान न करें, न भोजन, न विश्राम, न तुम्हारे ध्यानसे अलग हों, न मनसे पृथक् हों, न नाम छोड़ दूसरी बात बोलें, दृष्टि भी ऊपर नहीं करतीं और न उठती ही हैं, सारी रात और दिन बैठे ही बीत जाते हैं। इस भाँति वे रहती हैं।

टिप्पणी—२—आपमें उनका प्रेम ऐसा है कि नाम और ध्यान छूटते ही प्राण निकल जाय। इसीसे आपकी मूर्त्ति और नामका निरन्तर संयोग रखती हैं, पलभर भी वियोग नहीं होने पाता, यथा—'***जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥***' (३। २९) इस भाँति प्राणकी रक्षा करती हैं। दोनोंका उत्तर हो गया।

टिप्पणी—३ यहाँ दिखाया कि श्रीजानकीजीके मन, वचन और कर्म तीनों आपमें लगे हैं। '***ध्यान तुम्हार कपाट***' (मन), '***नाम पाहरू दिवस निसि***' (वचन) और '***लोचन निजपद जंत्रित***' (कर्म) है। पदके देवता भगवान् हैं।

टिप्पणी—४—इस कथनसे श्रीजानकीजीकी अत्यन्त दीन-हीन दशा दर्शित की। '***निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन। परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥***' (५८) जो देखा था वही दीन दशा यहाँ कही।

मा० त० सु०—१—निज पद जंत्रित=अपने चरणोंहीके निरीक्षणमें लीन हो रहे हैं।—२ यहाँ '***लोचन***

निजपद जंत्रित' पदसे बाह्य-आभ्यन्तर दोनों रक्षामें सावधानतापूर्वक परम दृढ़ता दिखायी। अर्थात् समस्त इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयमें चञ्चल करनेमें केवल नेत्र ही प्रधान होते हैं, वे आपके दर्शनकी प्याससे खुले हुए रहते हैं उन्हें अन्य दर्शनीय विषयोंसे रोक अपने चरणोंमें दृढ़तापूर्वक स्थिर किये हुए हैं। पुनः, ३-यहाँ वैराग्य, भक्ति और योग तीनों वर्णित हैं—*'नाम पाहरू'* वैराग्य है (क्योंकि रात-दिन जागना यह वैराग्यका लक्षण है), *'ध्यान तुम्हार'* भक्ति है और *'लोचन निज पद'''''* यह योग है। तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार मन, कर्म, वचनसे आपके नामरूपमें लगे रहें उनपर कालका अधिकार नहीं रह जाता। [नोट—पद्मपुराणमें ययाति राजाकी कथा है कि उनके राज्यमें भक्ति ऐसी हुई कि ५ लाख वर्षतक कोई मृत्यु न हुइ''''। (व्यासजी)]-(करु०)

टिप्पणी—५ *'जाहिं प्रान केहि बाट'* अर्थात् प्राण तो निकलना चाहते हैं पर उन्हें निकलनेके लिये रास्ता ही नहीं मिलता। यह आगे स्पष्ट है—*'अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥ नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥'* पुनः, यथा—**'मनो विलासैः श्वासैश्च प्रियैकाग्रं मनोगतिः। कार्येषु यत्र विद्वेषः सा चेष्टा मरणं मतम्॥'** (रसचन्द्रिका) इससे मरणावस्था सूचित की। इस भाँति प्राणोंकी रक्षा करती हैं।

नोट—४ नामपर पाहरू, ध्यानपर कपाट और लोचनपर यन्त्रिकाका आरोपण किया। इस प्रकार प्राणपर कैदीका आरोपण समझ लेना चाहिये। यह एक देशविवर्त्तित साङ्गरूपकालङ्कार है। प्राणरक्षाके लिये जो हेतु कहे गये हैं, वे उत्कर्षके कारण नहीं हैं। किसीके प्राण पहरेदार वा ताला लगे कपाटके भीतर बंद रखनेसे नहीं रुक सकते तो भी उसकी कल्पना करना 'प्रौढोक्ति अलंकार' है। (वीरकवि)

नोट—५ ☞ मनके रोकनेवालोंके लिये यहाँ साधन बताया गया है। मनके रोकनेके लिये ध्यानकी आवश्यकता बतायी गयी और ध्यान स्थिर रहे, टूटने न पावे, इसके लिये नेत्रोंका किसी स्थानपर, जैसे कि नासिकाग्र, भ्रू-मध्य आदिपर स्थिर करना आवश्यक है। मन और प्राण दोनोंका ऐसा सम्बन्ध है कि एकके रुकनेसे दूसरेकी गति भी रुक जाती है। इसीसे योगमें प्राणायाम बताया गया है। (श्रीगङ्गाधर ब्रह्मचारीजी)

☞ जैसे रामचन्द्रजीने अल्प अक्षरोंमें बहुत-से प्रश्न किये वैसे ही अल्प अक्षरोंमें इन्होंने सबका उत्तर भी दे दिया।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—किसीको बलपूर्वक रोक रखनेका यह उपाय है कि उसे तालामें बंद कर दे और पहरा बिठा दे, उसे जानेका मार्ग न मिले, फिर वह नहीं जा सकता। यही काल-वञ्चकका उपाय है। प्राणके ऊपर नामका पहरा बिठा दे। श्वास छोड़नेके समय 'रा' और खींचनेके समय 'म' कहे। रात-दिनमें इस भाँति २१६०० बार श्वासोच्छ्वास चलता है। इस भाँति २१६०० बार नामका जप होता है। इसीको अजपा जप कहते हैं। जबतक जागता रहे, इसी विधिसे नामसे प्राणका साथ न छूटने पावे, तो रातको आप-से-आप न छूटेगा। जिसका जी चाहे करके देख ले। विधि बतलाते हुए पूज्यपाद ग्रन्थकार कहते हैं—*'तुलसी' 'रा' के कहत ही निकसत सकल बिकार। पुनि आवन पावत नहीं देत मकार किवार॥'* इसी भाँति मनसे ध्यान सरकारका बनाये रखना किवाड़ देना है, और दृष्टि सदा नीचे अपने पैरोंसे बँधी रखना ताला बंद करना है। जबतक यह क्रिया अनवरत चलती रहेगी, प्राण जा नहीं सकता। यह बड़ा भारी योगशास्त्रका भेद गोस्वामीजीने हनुमान्जीके मुखसे कहलवा दिया। प्रक्रिया कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं है। इसके थोड़ेसे अभ्यासमें चमत्कार है, योगनिद्रादि सिद्धियाँ आप-से-आप होती हैं। गुरुमुखसे प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

चित्रशक्ति (Picture Force)

श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—काव्यकी दूसरी शक्ति चित्रशक्ति है। चित्र वह है कि जिसमें चित्रकारकी लेखनी चित्र खींचते हुए समस्त भावोंका फोटो लाकर सामने उपस्थित कर दे, चित्रका प्रत्येक अङ्ग आन्तरिक भावको बता दे। तुलसीदासजीने इस दोहेमें—*'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट'* जिस सुन्दरता तथा सफलतासे अशोकके नीचे रामके स्मरणमें तल्लीन बैठी हुई सीताजीकी पदपृष्ठपर आँखोंकी टकटकी लगी हुई दशाका चित्र खींचा है, उसे मर्मज्ञ ही समझ सकता है, उन्होंने पञ्चज्ञानेन्द्रियोंमें विशेष कार्य-कर्त्ता

श्रवण, नेत्र और जिह्वाको रूपकके बंदीगृहमें कैसा जकड़ा है! जिह्वापर रामनामका पहरा है, अतएव इस मार्गसे प्राणका निकलना अथवा मृत्युका आना कठिन है। इसी भाँति जिह्वा तो रामनामके आनन्दमें लीन है और श्रवण जिह्वासे निकले हुए आध्यात्मिक आनन्दसे पूर्ण उस नामके सुननेमें तल्लीन हैं। (यह स्मरण रहना चाहिये कि अपनी जिह्वाका शब्द चाहे वह कितना ही मंद क्यों न हो, कानोंको अवश्य सुनायी पड़ता है।) आह! फिर यह तन्मयता या पहरा भी किस गजबका है कि 'दिवस-निसि' दिन-रात रहता है, कोई समय खाली नहीं। आलस्यका कहीं पता नहीं। *'लोचन निज पद जंत्रित'* दृष्टिमें सूत्रकी कैसी सुन्दर जंजीर है! पैरपर तल्लीनताकी टकटकी लगी हुई है। जब मनुष्यका ध्यान अधिक गहराईमें होता है, तब बाह्येन्द्रियाँ इसी प्रकार प्रकटरूपमें एकाग्र हो जाती हैं। टेनिसन (Tennyson) ने भी (Passing of Arthur) पासिंग ऑफ आर्थरमें, जब सर बेडीवेर (Sir Bediver) आर्थरकी तलवार फेंकने अथवा छिपानेके सम्बन्धमें सोच कर रहा था तब, लिखा है कि वह (Counting the dew bubbles) ओसकणकी गणना कर रहा था।

अब उन अन्तरेन्द्रियोंको लीजिये जिनके लिये ***'ध्यान तुम्हार कपाट'*** रामके ध्यान कपाट हैं। दर्शन-शास्त्रका कहना है कि मनुष्य अपने मनसे जिस वस्तुका ध्यान निकाल डाले उसका अस्तित्व वहाँ नहीं रह सकता। भला जब भीतरी और बाहरी इन्द्रियोंको रामके अतिरिक्त किसी और बातको स्मरण करनेका समय ही नहीं, तब फिर मृत्यु बेचारीकी क्या शक्ति है कि इस सदेह तन्मयतामें प्रवेश कर सके?

☞ ऐसे उत्तम शब्दचित्र उन लोगोंकी भाषाओंमें कितने हैं, जो हमारी भाषाको गँवारी भाषा कहनेका दुस्साहस करते हैं?

☞ उपर्युक्त लेख २८-३० वर्ष हुए लिखा गया था। पीछे श्रीअयोध्याजीमें एक महात्माने बताया था कि भक्तिकी चैतन्य-समाधि (योगकी जड़समाधि नहीं) कुछ ऐसी ही होती है। अन्तर केवल यह होता है कि ***'निज पद'*** के बदले वहाँ ***'प्रभु पद'*** होता है। यहाँ तो आदि शक्ति है, इससे ***'निज पद'*** कहा गया, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। यथा—***'गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥'*** वचनकी प्रवीणता (Oratory Rhetoric) का आनन्द ही यह है प्रश्नके उत्तरमें प्रश्न ही मानो दाँवको लौटा देता है। भगवान्‌ने पूछा ***'केहि भाँति रहति?'*** उत्तर दोहा स्वयं कह रहा है—***'प्रान जाहिं केहि बाट?'*** नाटकीकलामें एक सुन्दर गुप्त आनन्द और है—यदि श्रीरामजीके हृदयमें गुप्त शङ्का हो (है नहीं) कि सीताजी तो कहती थीं कि वियोगमें मैं जीती नहीं रह सकती—(***'की तन प्रान कि केवल प्राना'***) तो अब जीती कैसे हैं? क्या वह दावा झूठ था?' तो भी कुशल दूत और भावमर्मज्ञ उसे जड़से उखाड़ देता है और कहता है कि मरनेकी फुरसत (अवकाश) भी हो उधर ध्यान भी तो जाय!—(संवत् २००४)।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही॥ १॥
नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी॥ २॥

अर्थ—चलते समय मुझको चूड़ामणि दिया (यह कहते हुए श्रीहनुमान्‌जीने उसे श्रीरामजीको दे दिया) श्रीरघुनाथजीने उसे हृदयसे लगा लिया॥ १॥ हे नाथ! दोनों नेत्रोंमें अश्रु भरकर श्रीजनकनन्दिनीजीने मुझसे कुछ वचन कहे॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही'*** इति। (क) श्रीहनुमान्‌जी लंका जलाकर पूँछ बुझाकर चलनेको तैयार हो विदा होनेके लिये श्रीसीताजीके पास गये और उनसे कुछ चिह्न माँगा। यथा—***'मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥'*** (५। २७), तब उन्होंने चूड़ामणि दी। परन्तु यहाँ हनुमान्‌जी यह नहीं कहते कि उन्होंने माँगनेपर दिया; कारण कि ऐसा कहनेमें प्रेममें न्यूनता पायी जाती। अतएव उन्होंने इतना ही कहा कि चलते समय दिया। पुनः, भाव यह कि व्याकुलतामें सुध भूल गयी थीं, इसीसे माँगनेपर दिया। (ख) ***'मोहि चूड़ामनि दीन्ही'*** कहकर अपने ऊपर उनकी विशेष कृपा जनायी, क्योंकि बिना कृपापात्रके और किसीको ऐसा पदार्थ नहीं दिया जाता। यथा—***'कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।'***

टिप्पणी—२ *'रघुपति हृदय लाइ तेहि लीन्ही'* इति। (क) प्रियका पदार्थ प्रियके तुल्य है, ऐसा जानकर हृदयसे लगाया; यथा—*'कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥'* (२। १९९) (ख) जब सुग्रीवने जानकीजीका वस्त्र दिया था तब उसे हृदयसे लगाकर श्रीरामजीने बड़ा शोच किया था; यथा—*'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।'* (४। ५); पर उन्होंने चूड़ामणि पानेपर वह शोक न दिया। इसका कारण यह है कि तब उनकी खबर न थी कि कहाँ हैं और व्याकुल भी थे, इससे वस्त्र पाकर अत्यन्त शोकवश हो गये थे। और अब पूरा समाचार मिल गया जिससे बहुत संतोष हो गया है! इसीसे अब वैसा सोच नहीं किया। (ग) वानरोंके आते ही प्रभु सबसे मिले, कुशल पूछी। जाम्बवन्तने हनुमत्चरित कहा, तब प्रभु फिर मिले। यहाँतक कोई मौका चूडामणि देनेका न था। इससे जनाया कि श्रीजाम्बवान्‌जीने अथवा वाल्मीकीयके अनुसार वानरोंने किसी चिह्नका दिया जाना अबतक न कहा था, [यद्यपि हनुमान्‌जीने वानरोंसे चूड़ामणिका लाना कह दिया था;—वाल्मी० ५। ५८। १००—१०२ में स्पष्ट कहा है, यथा—**'इत्युक्त्वा तु वरारोहा मणिप्रवरमद्भुतम्। प्रायच्छत'''''।'** यह जाम्बवान्‌जीकी बुद्धिमानी है कि उन्होंने स्वयं उसे न कहा। जिसको उन्होंने अभिज्ञान दिया है उसीका कहना उचित है—यही समझकर न कहा था। नहीं तो प्रभु उसे तभी माँगते।] जब हनुमान्‌जीसे पुनः मिलकर प्रभुने वृत्तान्त पूछा तब हनुमान्‌जीने सब कहकर चूड़ामणिका दिया जाना कहा और उसे श्रीरामजीको दिया। समय जानकर काम करना यह बुद्धिमत्ता है।

टिप्पणी—३ *'नाथ जुगल लोचन भरि बारी।'* इति आगे श्रीजानकीजीका दुःख वर्णन करते हैं, इसीसे प्रथम नेत्रोंमें जल भरना कहकर अन्तःकरणका दुःख दिखाया। पुनः, यह जनाया कि वे मन, तन, वचनसे दुःखी हैं। हृदयमें दुःख है, वचनसे अपना दुःख कहा है और तनसे प्रणाम किया है। पुनः नेत्रोंमें जल भरना इससे कहा कि आगे जानकीजीके नेत्रोंसे निरन्तर जलका प्रवाह चलता रहना कहेंगे—*'नयन स्रवहिं जल''''''।'*

नोट—१ श्रीपंजाबीजीका मत है कि, *'नाथ जुगल'* को सम्बोधन मानकर अर्थ करना चाहिये; क्योंकि स्पष्टरूपसे सीताजीने लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें पूर्व कोई बात नहीं कही है। 'जुगल' से दोनोंका बोध हो गया! अर्थात् हे नाथ! आप दोनोंसे कहा है। अथवा, *'जुगल'* नेत्रोंमें जल भरना इससे कहा कि श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंके दो-दो अपराध किये हैं श्रीरामजीका कहना न माना कि साथ न चलो, दूसरे उनको हिरणका चर्म लानेको कहा। और लक्ष्मणजीको दुर्वचन कहे तथा उनकी खींची हुई रेखाके बाहर निकल आयीं।

टिप्पणी—४ ☞ जो वचन कहे उन्हें आगे लिखते हैं—*'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।'* अर्थात् 'अनुजके समेत प्रभुके चरण पकड़कर प्रणाम किया', ऐसा कहनेको कहा है। प्रणाम करनेको नहीं कहा। यह नहीं कहा कि तुम अनुजसहित प्रभुके चरण पकड़ना किंतु यह कहा कि *'कहेहु तात अस मोर प्रनामा।'* यदि वे हनुमान्‌जीसे प्रणाम करनेको कहतीं तो वे अवश्य श्रीजानकीजीकी ओरसे प्रणाम करते और, वहाँ पाठ होता *करेहु तात अस मोर प्रनामा'। 'कहेहु तात अस मोर प्रनामा'* उपक्रम है और *'बचन कहे कछु जनककुमारी'* उपसंहार है। उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें कहना ही लिखा।

टिप्पणी—५ *'बचन कहे कछु'। 'कछु'* का भाव कि अत्यन्त व्याकुलताके कारण दुःख विस्तारसे न कहते बना। यथा—*'कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह॥'* (२। १५२) अथवा, वस्तुका चिह्न (चूड़ामणि) देकर फिर कुछ वचनकी चिन्हारी कही। अर्थात् कुछ वचन कहे जो चिह्नरूप हैं, जिनसे आपको विश्वास हो कि मैं उनके पास गया था—वह जयन्तकी कथा है, जो आप दोनों ही जानते हैं, दूसरा नहीं।

नोट—२ *'बचन कहे कछु'* यथा—'इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशे स्थितं प्रियम्। दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा॥' (अध्यात्म० ५। ५। ५३), '''''''तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी।' अर्थात् केशपाशमें स्थित अपनी प्रिय चूड़ामणि दी और चित्रकूटमें काकके साथ जो कुछ हुआ वह सुनाकर नेत्रोंमें जल भरकर कहा। श्रीसीताजीने जो कहा था कि—*'तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बानप्रताप प्रभुहि समुझाएहु॥'* (५। २७), वह मानसमें स्पष्ट शब्दोंमें हनुमान्‌जीने नहीं कहा, केवल उसका संकेत कर दिया कि 'कुछ वचन'—चिह्न भी कहे थे।

मा० त० सु०—जयन्तकी कथा रहस्यसूचक है; अतः 'कछु' इतना ही कहकर रहस्यको सूचित कर दिया। क्योंकि वह रहस्य अति गुप्त है, जो अत्यन्त निकटवर्ती हो उसीके जाननेयोग्य है। अतः गुप्त ही कहा।

दीनजी—'जनककुमारी' शब्द साभिप्राय है। इससे व्यञ्जित किया गया कि 'जनककुमारी' अर्थात् जिसका दुःख देखकर आपने धनुष तोड़ा था, उसीने कुछ बातें कही हैं; उनका दुःख दूर कीजिये। *'चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि। देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥'*

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीनबंधु प्रनतारति हरना॥ ३॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥ ४॥
अवगुन एक मोर मैं माना*। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना†॥ ५॥

अर्थ—(कहना कि) अनुजसमेत प्रभुके चरण पकड़े (इस प्रकार प्रणाम करते हुए कहा कि प्रभो!) आप दीनबन्धु हैं, प्रणतके दुःखके हरनेवाले हैं। (वा हे दीनबन्धु! हे प्रणतार्तिहरण!‡ मैं मन, कर्म, वचनसे आपके चरणोंकी अनुरागिणी हूँ फिर हे नाथ! किस अपराधसे मैं त्याग दी गयी?॥ ३-४॥ मैं मानती हूँ कि मेरा यह एक अवगुण है कि वियोग होते ही मेरे प्राणने पयान नहीं किया॥ ५॥ (अर्थात् यह अपराध त्यागनेके योग्य है पर मैं आपके दर्शनार्थ जीती हूँ यह समझकर दर्शन दीजिये।)

टिप्पणी—१ *'अनुज समेत गहेहु——'* इति। लक्ष्मणजी रामभक्त हैं। भक्तभावसे चरण पकड़े। जैसे भरतजीने कहा है—*'सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखनरामसिय-पद बिनु देखें॥'* (२। १७८) अथवा, स्नेहकी व्याकुलतासे चरण गहे, जैसे वियोग होते देखकर श्रीकौशल्या अम्बाजी श्रीरामजीके चरणोंमें लपट गयी थीं। यथा—*'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥'* (२। ५७)

नोट—१ लक्ष्मणजीके चरण क्यों पकड़े? इसका समाधान कई प्रकार लोगोंने किया है। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि 'उन्होंने अश्रुपूर्णलोचन होकर कहा कि मेरी कुशल रघुनाथजीसे कहकर लक्ष्मणजीसे कहना कि मैंने जो दुर्वचन कहे, हे कुलनन्दन! उनको क्षमा करो और जिस तरह श्रीरामजी मेरा उद्धार करनेको उद्यत हों, वह करो।'—**'तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम्। लक्ष्मणं ब्रूहि मे किंचिद्दुरुक्तं भाषितं पुरा॥ तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन। तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः॥'** (अ० रा० ५। ५। ५४-५५) इसके अनुसार चरणस्पर्शसे क्षमा-प्रार्थना और अपनी अति दीन दशा प्रकट की। और समाधान (२) अनुजसमेत तुम (दोनों) प्रभुके चरण पकड़कर कहना। (३) अनुजसमेत जो प्रभु हैं उनके चरणोंको स्पर्श करना अर्थात् जब दोनों साथ हों तब कहना, जिसमें लक्ष्मणजी भी सुन लें। (मा० म०, करु०, प्र०) (४) श्रीजानकीजीने केवल श्रीरामजीसे प्रणाम किया था, लक्ष्मणजीके चरण-स्पर्श कहनेमें महावीरजीकी चतुराई है। उन्होंने सोचा कि दोनों साथ हैं, यदि अकेले रामजीका ही नाम लूँ तो लक्ष्मणजी कहेंगे कि मेरे लिये माताने कुछ न कहा और यह कहूँ कि माताने मुझे दोनोंके चरणारविन्द छूने योग्य समझकर लक्ष्मणजीके भी चरण छूनेको कहा तो अनुचित न होगा। (५) श्रीसीताजी आर्त्त हैं और *'आरत के न रहत चित चेतू।'* आर्त्तके वचनोंमें सँभाल नहीं रहता। अतः ऐसा कहा।

टिप्पणी—२ (क) *'दीनबंधु प्रनतारतिहरना।'* ऐसा कहकर चरण पकड़नेकी विधि है, यथा—*'त्राहि त्राहि आरति-हरन सरन सुखद रघुबीर। अस कहि करत दंडवत देखा॥'* 'दीनबंधु' अर्थात् मैं दीन हूँ, मेरी

---

* 'जाना'—रा० प्र०, रा० व० श०, ब्र० चं०।

† ब्र० चं० 'अनुज' पायकुलक, 'दीनबंधु०' चंद्रवर्तन (४), 'अवगुन०' पायकुलक, 'बिछुरत०' तमरस है।

‡ यह अर्थ पं० रामकुमारजीके मतानुसार है। इस अर्थका कारण वे ऊपर चौ० (२) टिप्पणी ४ में कह चुके हैं। अन्य टीकाकारोंने यह अर्थ किया है कि 'छोटे भाई लक्ष्मणजीके सहित प्रभुके चरणोंको पकड़ना (स्पर्श करना) और कहना कि'। और 'गहेहु' का अर्थ भी यही होता है कि 'तुम पकड़ना।'

सहायता कीजिये, क्योंकि आप दीनोंके सहायक हैं *'प्रनतारतिहरना'* अर्थात् मैं मन-कर्म-वचनसे चरणानुरागिणी हूँ, शरण हूँ और आर्त हूँ; आप मेरे दुःखको हरण करें। यथा—*'दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम्ह आरत आरति दौन।'* (गी० ५। २०)

टिप्पणी—३—*'मन क्रम बचन चरन अनुरागी……'* इति। (क) मन-वचन-कर्मके उदाहरण क्रमसे ये हैं—*'नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहेउ कछु जनककुमारी॥'* *'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।'* (ख) *'केहि अपराध नाथ हौं त्यागी'* का भाव कि आप तो जनका अवगुण मानते ही नहीं, यथा—*'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।'* (७। १), *'अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन'* *'दास दोष सुरति चित रहित न……'* (विनय०)*'रहति न प्रभु चित चूक किए की।'* (१। २९) तब मेरा अपराध क्यों देख रहे हैं, मुझसे क्यों रूठ गये हैं जो मेरा शीघ्र उद्धार नहीं करते? (नोट—वाल्मी० ५। ६७ के **'सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः। ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः॥ समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परन्तपौ।'** अर्थात् 'समर्थ और अजेय होकर भी मेरी उपेक्षा कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि निःसन्देह मेरा ही कोई बड़ा पाप वा अपराध है।'—इसका भाव इस अर्धालीमें है।) ☞ जैसा हनुमान्‌जीसे सीताजीने कहा था वैसा ही उन्होंने रामजीसे कहा; यथा—

चूड़ामनि उतारि तब दयऊ	*१ चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही*
कहेहु तात अस मोर प्रनामा	*२ अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना*
दीनदयाल बिरद सँभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी	*३ दीनबंधु प्रनतारति हरना॥*

टिप्पणी—४ *'अवगुन एक मोर मैं माना……'* इति। (क) *'मैं माना'* मैं स्वीकार करती हूँ, क्योंकि मैंने प्रथम कहा था कि *'राखिय अवध जो अवधि लगि रहत न जनि अहिं प्रान।'* (२। ६६) और उसे करके न दिखाया। अपराध करके उसे न माने यह बड़ा दोष है। अपराध होनेपर उसे मान ले अतः कहती हैं कि 'मैं माना।' अवगुण और अपराध पर्याय हैं। यहाँ *'अवगुन एक मोर मैं माना'* कहा है और आगे उसीके विषयमें *'नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा।'* कहते हैं।

नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥ ६॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहि सरीरा॥ ७॥
नयन स्त्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी*॥ ८॥

अर्थ—परन्तु हे नाथ! वह अपराध नेत्रोंका है कि प्राण निकलनेमें हठ करके (बलात्) बाधक होते हैं॥ ६॥ विरह अग्नि है, शरीर रूई है, श्वास पवन है इस तरह शरीर क्षणभरमें जल जाय॥ ७॥ परंतु नेत्र अपने हितके लिये (रूपदर्शनके निमित्त) जल गिराते रहते हैं, जिससे विरहाग्निसे भी देह जलने नहीं पाती॥ ८॥

नोट—१ यहाँ फिर कविका काव्यकौशल स्पष्ट है। २—कृष्णगीतावलीमें गोपिकाओंने श्रीकृष्णविरहमें अपने प्राण न निकलनेका कारण जो दिया है वह इससे मिलता-जुलता है। यथा—*'सुनत कुलिस सम बचन तिहारे। चित दै मधुप सुनहु सोउ कारन जातें जात न प्रान हमारे॥ ज्ञान कृपान समान लगत उर, बिहरत छिन-छिन होत निनारे। अवधि जरा जोरति हठि पुनि पुनि, याते तनु रहत सहत दुख भारे॥ पावक-बिरह समीर-स्वास तनु तूल मिले तुम्ह जारनिहारे। तिन्हहिं निदरि अपने हित कारन राखत नयन निपुन रखवारे॥ जीवन कठिन मरन की यह गति दुसह बिपति ब्रजनाथ निवारे। तुलसिदास यह दसा जानि जिय उचित होइ सो कहौ अलि प्यारे॥'* (५६), *'तुम्ह कहि रहे हमहुँ पचि हारी, लोचन हठी तजत हठ नाहीं। तुलसिदास सोइ जतन करहु कछु बारक स्याम इहाँ फिरि जाहीं॥'* (५८), *'मोकों अब नयन भए रिपु भाई। हरि बियोग तनु तजेहि परम सुख ए राखहिं सोइ है बरिआई। बरु मनु कियो बहुत हित मेरो बारहि बार काम दव लाई। बरषि नीर ये तबहिं बुझावहिं स्वारथ निपुन अधिक चतुराई।……ए हठनिरत दरस लालच बस परे जहाँ बुधिबल न बसाई। तुलसिदास इन्हपर जो द्रवहिं हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई॥'* (५९) इन

* (६), (८) और 'स्वास……।' पायकुलक है, 'बिरह……' चण्डी है।

उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव इन अर्धालियोंमें हैं और उसी कविके हैं। गीतावलीमें भी इन अर्धालियोंकी जोड़के वचन हैं, जो श्रीसीताजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहे हैं। यथा—*'बिरह अनल स्वासा समीर निज तनु जारिबे कहँ रही न कछु सक। अति बल जल बरषत दोउ लोचन दिन अरु रैन रहत एकहिं तक॥'* (५। ९) श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे यह दशा यों कही है—*'अतिहि अधिक दरसन की आरति। रामबियोग असोकबिटप, तरसीय निमेष कलप सम टारति। बार बार बर बारिज लोचन भरि भरि बरत बारि उर ढारति। मनहुँ बिरह के सद्य धाय हिये लखि तकि तकि धरि धीरज तारति। तुलसिदास जद्यपि निसि बासर छिन-छिन प्रभु मूरतिहि निहारति। मिटति न दुसह ताप तउ तनु की यह बिचारि अंतरगति हारति॥'* (५। १९) ☞ इन उद्धरणोंके सब भाव यहाँ गोस्वामीजीने थोड़ेमें कह दिये हैं।

टिप्पणी—१ *'करहिं हठि बाधा।'* भाव कि प्राण रहना नहीं चाहते, नेत्र उन्हें हठात् रोके हुए हैं। प्राणोंका यह हाल कहकर फिर शरीरका हाल कहती हैं कि वह विरहाग्निसे जलने नहीं पाता। देह और प्राण दोनों ही सबको परमप्रिय होते हैं; आपके वियोगमें वे दोनोंमेंसे किसीको भी नहीं रखना चाहती हैं; पर करें तो क्या? लाचार हैं। न प्राण निकलने पावें और न देह ही जलने पावे। मिलान कीजिये श्रीदशरथ-वाक्यसे जो उन्होंने विश्वामित्रजीसे कहे हैं, यथा—*'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।'*

टिप्पणी—२—*'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन·····'* इति। (क) तनको तूल कहनेका भाव कि शरीरका रक्त और मांस तो विरहाग्निसे जल गया, सूखा शरीर बचा हुआ है। शरीरके भीतर विरह और श्वासा हैं, जो उसे जलाते हैं। जैसे रूईके भीतर अग्नि और पवन रहकर रूईको जलाते हैं। (ख) *'छन माहि'* अर्थात् काष्ठादिकके जलनेमें कुछ देर लगती है, पर रूईके जलनेमें किंचित् भी विलम्ब नहीं होता। ☞ इन चौपाइयोंमें अपने हृदयकी ग्लानि कहती हैं। विरहाग्निसे शरीर निरन्तर जलता है, ऊर्ध्वश्वास चलती है, दिन-रात अश्रुपात होते हैं, प्राण निकलना चाहते हैं—यह दशा जनायी।

टिप्पणी—३—*नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी·····'* इति। भाव कि दर्शनार्थ शरीर रखे हुए हैं; यथा—*'रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपबास। तजि तजि भूषन भोग सुख जियत अवधि की आस॥'* इससे सूचित होता है कि रुदनसे विरह कुछ शान्त हो जाता है, अश्रुपात न हो तो विरहाग्निसे मृत्यु हो जाय। विरहाग्नि इतनी तीव्र है कि शरीर क्षण भर रह नहीं सकता। पर उसकी तीव्रताको अश्रु निरन्तर बहकर शान्त कर देते हैं जिससे शरीर नहीं जल पाता, प्राण नहीं निकल पाते; जैसे रूई पानीमें भीग जानेसे फिर कुछ देरतक नहीं जल पाती। बरवै रामायणमें श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे यही कहा है; यथा—*'बिरह आगि उर ऊपर अब अधिकाइ। ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देइँ बुझाइ॥'* (५। ३६) नोट १ देखिये।

दीनजी—नेत्र रुकावट डालते हैं। उनके ही कारण मृत्यु नहीं हो सकी; क्योंकि वे अपने ही चरणोंको देखती हुई श्रीरामजीके चरणोंका ध्यान कर रही थीं। नेत्र भगवान्‌के चरणोंके ध्यानका लोभ संवरण नहीं कर सकते, इसीसे प्राण नहीं निकले। अर्थात् नेत्रोंद्वारा यदि ये अपने चरणोंको देखकर भगवान् रामचन्द्रजीके चरणोंका ध्यान न करती होतीं तो उनकी मृत्युमें संदेह ही न था। अश्रुद्वारा हृदयको कुछ सान्त्वना मिल जाती है। ध्वनि यह है कि आपके दर्शनके लिये बराबर रोया करती हूँ।

मा० त० सु०—*'छन माहि'* जलानेका भाव कि उसपर अग्निका सहायक दुःखमय श्वासरूपी पवन सदा प्रवृत्त रहता है।

वीरकविजी—प्राण न निकलनेका कारण श्रीसीताजीने किस मनोहर हेतुसूचक युक्तिसे पुष्ट किया कि इसके अपराधी नेत्र हैं। दर्शनके लाभसे उसे बाहर निकलने नहीं देते। शरीर नहीं जलता क्योंकि नेत्र पानी बहाकर बुझा देते हैं। यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'बिरह अगिनि·····बिरहागी'* इति। यहाँ सती होनेका विज्ञान ग्रन्थकारने बतलाया है। विरहकी अग्निके तापसे थोड़ा-बहुत तो सभी परिचित हैं, पर यह ताप पराकाष्ठाको उसीमें पहुँचता

है, जब पति-प्राणाको पति-विरह होता है! श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि यह ताप इतना तीव्र होता है कि शरीरको रूईकी भाँति भस्म कर सकता है। आँसू गिरनेपर तापकी शान्ति हो जाती है। अतः पतिके वियोग होनेपर पत्नीके आँसू न गिरनेपर आज भी लोग सशंक हो उठते हैं। पर यह सब उसीमें सम्भव है, जिससे मानसिक व्यभिचार भी नहीं हुआ हो। अतः पतिकी भावना हृदयमें आनेके पहिले ही विवाह कर देनेका पूर्वकालमें नियम था, जिसमें पतिभावनाके हृदयमें आते ही कन्याका ध्यान अपने पतिपर ही जाय। यह पातिव्रत्यका पाठशाला था, अब वह कानूनसे तोड़ दिया गया, फिर भी सालमें दो-एक दृष्टान्त सती होनेके मिल ही जाते हैं।

जो हो पर यहाँ सतीशिरोमणि सीताजी कहती हैं कि इन आँखोंको दर्शनकी आशा है, अतः ये आँसू गिरा देते हैं जिससे शरीर भींग जाता है और भींगी हुई रूई नहीं जलती।

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला॥ ९॥

दो०—निमिष निमिष करुनानिधि* जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिय प्रभु आनिअ भुजबल खल दल जीति†॥ ३१॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी विपत्ति अत्यन्त विशाल है, हे दीनदयाल! बिना कहे ही भला है। (अर्थात् कहना भला नहीं है। शीघ्र चलकर शत्रुको मारकर ले आइये, बस इसीमें भला है)॥ ९॥ हे करुणानिधे! उन्हें पल-पल कल्पके समान व्यतीत होता है। अतः हे प्रभो! शीघ्र चलिये, और अपनी भुजाओंके बलसे दुष्टोंके दलको जीतकर उन्हें ले आइये॥ ३१॥

टिप्पणी—१ (क) *'अति बिपति बिसाला।'* खल-मण्डलीमें रहना विपत्ति है, उसपर आपका वियोग यह विशाल विपत्ति है। और इसपर भी रावण और राक्षसियोंका उपद्रव यह अति विशाल विपत्ति है। [प० प० प्र० का मत है कि 'रामवियोग ही मुख्य विपत्ति है। खलोंकी बस्तीमें सत्सङ्गविहीन रहना 'विशाल विपत्ति' है और रावणका दुर्वाद सुनना 'अति विशाल विपत्ति' है।' पं० श्रीकान्तशरणजीने यहाँ शंका उठाकर कि 'कराला' विशेषण न देकर 'बिसाला' क्यों दिया, उसका समाधान यह किया है कि—'कराला' उचित था, पर 'बिसाला' कहा गया क्योंकि यह विपत्ति वियोग-शृङ्गाररूपमें रामस्नेहके कारण है, इसीसे शोभासूचक विशेषण है। जैसा कि रामस्नेहमें देह-त्यागके सम्बन्धसे राजा दशरथकी चिताको भी 'सुहाई' कहा गया है, यथा—*'सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥'* (अ० दो० १६९)—पर इस दीनकी समझमें तो यहाँ वस्तुतः 'विपत्ति' के साथ 'बिसाला' और आगे 'बिनहिं' के आनेसे एक प्रकारका अनुप्रास अलंकार है। 'कराला'से अलंकार नष्ट हो जाता। दूसरे, 'बिसाल' इससे कहा कि विपत्ति बहुत दिनोंकी है, बहुत भारी और बड़ी है, और कठिनता तो *'बिनहिं कहे भलि'* इसमें आ गयी; अलगसे 'कराल' शब्द देनेकी आवश्यकता न रह गयी। केवल 'कराल' से कठोरतामात्र दर्शित होती है, विशालताका भाव उसमें आ ही नहीं सकता। 'बिपति' के साथ 'कराल' शब्दके प्रयोगका उदाहरण उन्होंने यहाँ नहीं दिया है जिससे हम मिलान कर सकें।] ('बिनहिं कहे भलि'। रावणने कटु वचन कहे, मारनेको दौड़ा, यह बात बिना कहे ही अच्छा है; इसीसे नहीं कहते अथवा, यह बात कहने योग्य नहीं, यह कहकर 'दीनदयाल' विशेषण देनेका भाव यह है कि उनकी दशा बहुत दीन है, आपको सुनकर सहन न होगी; उसे सुनकर कहीं यहींसे त्रिलोकीका नाश करनेको सन्नद्ध न हो जायँ); मैं ही देखकर व्याकुल हो गया, यथा—*'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहिं कलपसम बीता॥', 'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन', 'देखि दसा ब्याकुल हरीस ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो॥'* (गी० ५। १५) इसीसे श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे कहा था कि—*'सुनु हनुमंत अनंत-बंधु करुना-सुभाव सीतलकोमल अति।*

* करुनायतन—(कोदवराम)। औरोंमें 'करुनानिधि'।

† 'सीता·····' पायकुलक, 'बिनहि·····' तामरस, ३१ दोहरा है। (ब्र० चं०)

तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौं प्रकट कहि न सकति' (गीता० ५। ९)

नोट—१ यहाँ 'दीनदयाल' शब्द्में अगूढ़ व्यंग है।

पाँड़ेजी—सह न सकेंगे; इसीसे अधिक कहना उचित न समझकर एक ही पद 'विशाल' कहकर संक्षेप कर दिया। दूसरा अर्थ—सीताजीकी विपत्ति इतनी भारी है कि उसकी ओर देखकर आपको दीनदयाल न कहना ही अच्छा है। अर्थात् वह अति शीघ्र ही निवृत्त करने लायक है।'

टिप्पणी—२ *'निमिष निमिष करुनानिधि'''*' इति। (क) *'करुनानिधि'* अर्थात् आप करुणाके समुद्र हैं, करुणा करके शीघ्र चलिये। [गीतावलीमें भी *'अति बिपति'* कहते समय *'करुणानिधि'* सम्बोधन दिया गया है। यथा—*'सुनहु राम बिश्रामधाम हरि! जनकसुता अतिबिपति जैसे सहति। हे सौमित्रिबंधु करुनानिधि मन महँ रटति प्रगट नहिं कहति। निज पद-जलज बिलोकि सो करत नयननि बारि रहत न एक छन॥'* (५। १७)—मानसमें यही दशा ऊपर दोहा ३०में दिखायी गयी है।] निमिष-निमिष कल्पसम बीतता है, अर्थात् वे अत्यन्त व्याकुल हैं; यथा—*'देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥'* ऐसी व्याकुल हैं कि मुझ देखनेवालेको क्षण कल्पसम बीता, यथा—*'सो छन कपिहि कलप सम बीता'*। क्षणसें निमिष कम होता है। देखनेवालेको क्षण कल्पके समान और भोगनेवालेको निमिष कल्पसमान बीता। तात्पर्य कि भोगनेवालेको देखनेवालेसे अधिक दुःख होता है। (ख) *'बेगि चलिय'* अर्थात् वे मरणावस्थाको प्राप्त हैं। विलंब होनेसे शरीर छूट जायगा। (ग) ☞ विरहकी दस दशाएँ हैं—(१) अभिलाषा। (२) चिन्ता। (३) स्मरण। (४) गुणकीर्त्तन। (५) उद्वेग अर्थात् कुछ भी अच्छा न लगना। (६) प्रलाप। (७) उन्माद (पागल हो जाना)। (८) व्याधि (अर्थात् संताप)। (९) जड़ता (चेष्टारहित हो जाना)। (१०) मरण। यहाँतक जानकीजीकी नौ दशाएँ दिखायीं, दसवीं न कही। इससे सूचित किया कि वह दशा न कहनी चाहिये। (घ) *'भुजबल खलदल जीति'* का भाव कि शत्रुकी इच्छा युद्धकी है, यथा—*'जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥'* (५। २५) अथवा जाम्बवान्‌से सुना है कि *'तब निजभुजबल राजिवनयना। कौतुक लागि संग सब सैना॥' 'कपिसेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनि हैं।'* इससे कहते हैं कि *'बेगि चलिय प्रभु आनिअ भुजबल खलदल जीति।'*

नोट—२ *'बेगि''''प्रभु''''भुजबल'* इति। श्रीजानकीजीका जो संदेशा वाल्मी० ५। ६७। १८—२१ में हनुमान्‌जीने कहा है वह इस उत्तरार्द्धमें आ जाता है। आप 'प्रभु' हैं अर्थात् सुरासुर किसीमें आपके सम्मुख रणमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं है। *'बेगि खलदल जीति'* अर्थात् शीघ्र अपने तीक्ष्ण बाणोंसे युद्धमें रावणको मारकर मुझे ले जाइये। पुनः, इन शब्दोंसे यह भी गुप्तरूपसे जना दिया कि रावणको मारकर तो मैं ही श्रीसीताजीको ला सकता था, पर इससे आपके यशमें बट्टा लग जाता, स्वयं अपने पराक्रमसे रावणको बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर श्रीसीताजीको ले आना आपकी परम मर्यादाके अनुकूल होगा। यथा—**'कामं त्वमसि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान्। राघवस्य यशो हीयेत्त्वया शस्तैस्तु राक्षसैः॥ यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम्। मामितो गृह्य गच्छेत तत् तस्य सदृशं भवेत्॥ न देवगन्धर्वभुजङ्गराक्षसा भवन्ति रामेण समा हि संयुगे॥'** (वाल्मी० ५। ३७। ५७, ६४, ६५) (श्रीजानकीवाक्य श्रीहनुमान्‌जीके प्रति) श्रीसीताजीके इन वचनोंको सुनकर उन्होंने उनसे कहा था कि ऐसा ही होगा, आप धैर्य धारण करें। यथा—**'हत्वा तु समरे रक्षो रावणं सह बान्धवैः। राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रतिनेष्यतः॥'** (५। ४०। १६) उसीके अनुसार वे यहाँ प्रभुसे कह रहे हैं। वाल्मीकीयमें यह संदेश कहा है कि —**'बलैः समग्रैर्यदि मां हत्वा रावणमाहवे। विजयी स्वपुरीं रामो नयेत्तत्स्याद्यशस्करम्॥ यथाहं तस्य वीरस्य वनादुपधिना हृता। रक्षसा तद्भयादेव तथा नार्हति राघवः॥'** (५। ६८। १२-१३) (अर्थात्) यदि श्रीरामचन्द्रजी रावणको उसकी सेनासहित मारकर, विजय प्राप्तकर मुझे ले जायँ तो उनकी कीर्ति होगी। जैसे रावण चोरीसे हर लाया उस प्रकार ले जाना उनके योग्य, उनके स्वरूपानुरूप नहीं है। जिस कार्यसे उनका पराक्रम प्रकाशित हो वह उपाय तुम करना। श्रीहनुमान्‌जीने इन सब बातोंके अनुसार ही यहाँ कहा है। यहाँके *'भुजबल' 'खलदल जीति'* की जोड़में

'**बलैः**' और '**समग्रैः हत्वा रावणमाहवे विजयी**' शब्द उपर्युक्त उद्धरणमें हैं। अतः वे सब भाव यहाँ गृहीत हैं। पुनः भाव कि बलदर्पित पुरुषोंके बीचमें पराक्रमसे ही काम लेना हनुमान्‌जीको रुचता है (क्योंकि ऐसे लोगोंसे साम, दान और भेदसे काम नहीं चल सकता यह पूर्व कहा जा चुका है), यथा—'**न भेदसाध्यो बलदर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेव ममेह रोचते।**' (वाल्मी० ५। ४१। ३)—इसीसे '*भुजबल खलदल जीति*' कहते हैं अथवा, श्रीसीताजीके कहनेसे हनुमान्‌जी जानते हैं कि रावण कभी सीताजीको जीते-जी न लौटायेगा। यथा—**मम प्रतिप्रदानं हि रावणस्य न रोचते। रावणं मार्गते संख्ये मृत्युकालवशं गतम्॥ ज्येष्ठा कन्याऽनला नाम विभीषणसुता कपे। तया ममैतदाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम्॥**' (वाल्मी० ५। ३७। १०-११) अतएव '*भुज जीति*' कहा। पुनः वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे कहा है कि—रावण आजकल द्यूतादि व्यसनोंसे मुँह मोड़कर, युद्धके लिये कमर कसे तैयार है। वह सदा जागरूक रहता है और बड़ी सावधानीसे सेनाकी देखरेख किया करता है। यथा—'**स्वयं प्रकृतिसम्पन्नो युयुत्सू राम रावणः**……।' **उत्थितश्चाप्रमत्तश्च बलानामनुदर्शने॥**' (६। ३। १९-२०)—यह हनुमान्‌जी देख आये हैं, अतः जानते हैं कि युद्ध अवश्य करना होगा, बिना युद्धके काम न चलेगा। इसीसे '*खलदल जीति*' कहा।

मा० त० सु०—'*नाम पाहरू*' से '*जरइ न पाव देह बिरहागी*' तक जीवकी शुद्ध प्रपत्ति-दशा दिखायी और '*सीता कै अति बिपति*……' से '*खलदल जीति*' तक जीवको भगवद्ग्राह्य करानेमें आचार्यकी तत्परता दिखायी। आगे शुद्ध शरणागतरूप जीवको देख श्रीरघुनाथजीका दयालुता-गुण दिखाते हैं। अभिप्राय यह कि जीव जब श्रीकिशोरीजीके सदृश भगवद्विरहमें लीन हो जाय और श्रीहनुमान्‌जीके सदृश शुद्ध आचार्य जीवको भगवत्प्राप्ति करानेमें तत्पर हो जायँ तब भगवान्‌की कृपा शीघ्र हो।

सुनि सीता दुख प्रभु सुखअयना। भरि आए जल राजिव नयना॥ १॥
बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही*॥ २॥

अर्थ—श्रीसीताजीका दुःख सुनकर समर्थ और सुखके धाम प्रभुके कमलनेत्रोंमें जल भर आया॥ १॥ वचन, शरीर और मनसे जिसको मेरी ही गति है, क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति होनी चाहिये?॥ २॥

टिप्पणी—१ '*सुनि सीता दुख*……' इति। (क) '*प्रभु*', का भाव कि समर्थ हैं, पर असमर्थकी तरह दुःखी हो गये। भीतरका दुःख बाहर दर्शित हो गया। (ख) '*सुखअयन*' का भाव कि आप तो सुखधाम हैं, आपको दुःख कहाँ? पर आप भी भक्तके दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। यथा—'*तव दुख दुखी सुकृपानिकेता।*' (५। १४); '*तुलसिदास दुखसुखातीत हरि सोंच करत मानहु प्राकृत जन।*' (गी० ५-१७) [पाँड़ेजी कहते हैं कि—सीताजीके दुःखकी बात सुननेके समय 'सुखअयन' विशेषण सुननेमें बेजोड़-सा जान पड़ता है, परन्तु समझनेके योग्य है; क्योंकि यदि प्रभु श्रीसीताजीको अपने वियोगमें सुखी सुनते तो दुःखी होते और जब अपने बिना दुःखी सुना तब सुखी हुए। सुखकी उमंगमें नेत्रोंमें जल भर आया]। इस तरह 'सुख अयन' कहकर जनाया कि सीताजीका दुःख सुनकर उनकी प्रीति समझकर सुख हुआ; यथा—'*अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी॥*' (ग) '*राजिवनयन*' विशेषण कृपाका द्योतक है; यथा—'*राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥*' (१। १८), '*देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना॥*' (५। ३५), '*देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई॥ सुनु सुग्रीव*……। *मैं देखउँ खल बल दलहि बोले राजिवनैन॥*' (६। ६६), '*राजीवलोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी। अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥*……*बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि*……॥' (७। ५), '*राजीव बिलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि सरनहिं आई॥*' (१। २११), ३५ (२) देखिये। इससे जनाया कि सीताजीपर कृपा करके दुःखी हुए। अथवा हनुमान्‌जीने कहा है कि '*नाथ जुगल लोचन भरि बारी*' इससे आपके भी नेत्रोंमें जल भर आया। क्योंकि आपका वचन है कि—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता)

* (१), (२), (३) पायकुलक है। (ब्र० चं०)

प० प० प्र०—'*बचन काय मन मम गति जाही*' इति। श्रीसीताजीकी दीनता और अनन्यगतित्व सुनते ही माधुर्यभाव भूल गये, ऐश्वर्यभाव प्रकट हो गया।' '*मम गति*' से सूचित हो गया।

टिप्पणी—२ '*सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही।*' (क) भाव कि रामानुरागीको विपत्ति नहीं होनी चाहिये। जो भक्त नहीं हैं वे ही विपत्तिमें पड़ते हैं। यथा—'*जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥*', '*जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं॥*' (४। १२) (ख) '*सपनेहु*' का भाव कि 'जाग्रतिमें विपत्ति है ही नहीं, सुषुप्तिमें तो कुछ खबर ही नहीं रहती और स्वप्नमें भक्त वही देखता है जो भावना रहती है—तात्पर्य कि कहीं भी किसी अवस्थामें उसे विपत्ति नहीं। अनन्यगतिक तो सदा सुखी रहता है। जब भगवान् प्रत्यक्ष नहीं हैं तब वह उनके ध्यानमें सुखी रहता है, जैसे श्रीसुतीक्ष्णजी। यथा—'*जाग न ध्यान जनित सुख पावा।*' और जब प्रभुका साक्षात् दर्शन प्राप्त होता है, तब तो उसके सुखका कहना ही क्या? दुःख तो दोनों दशाओंमें नहीं होता।

नोट—'*सपनेहु*......' के अन्य अर्थ ये हैं-१ उससे पूछो कि क्या उसे स्वप्नमें भी विपत्ति है—(पं० रा० कु०) २—उसके लिये क्या स्वप्नमें भी विपत्ति पूछनी चाहिये?—(मा० त० सु०) ३—विचारो तो सही क्या उसे स्वप्नमें भी विपत्ति हो सकती है—(दीनजी) क्या उसे स्वप्नमें भी विपत्ति समझ सकते हो वा समझनी चाहिये। ४—क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति समझ पड़ती। (पं० श्रीकान्तशरण)। ५—क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति पूछ सकती है? अर्थात् स्वप्नमें भी न होनी चाहिये। इत्यादि। ☞ पर '*बूझिअ*' को कविने 'चाहिये' के अर्थमें प्रयुक्त किया है। यथा—'*ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले।*' (विनय ३२) यही अर्थ यहाँ भी है।

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥ ३॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी*॥ ४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने कहा—'हे प्रभो! विपत्ति वही है कि जब आपका भजन-स्मरण नहीं होता॥ ३॥ हे प्रभो! राक्षसोंकी बात ही कितनी है? आप शत्रुको जीतकर जानकीजीको ले आवेंगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*बिपति प्रभु सोई*......*।*' इति। भाव कि श्रीसीताजी मन-कर्म-वचनसे चरणानुरागिणी हैं। मनसे चरणसेवा करती हैं, यथा—'*मन रामचरन महँ लीन।*' वचनसे नामस्मरण करती हैं—'*नाम पाहरू*'*।* तनसे चरणसेवा आदि बन नहीं पड़ती, यही विपत्ति है। इसके बाधक राक्षस हैं, सो उन्हें मारकर जानकीजीको ले आवेंगे, बस यह भी विपत्ति मिट जायगी। ☞ हनुमान्‌जीने श्रीसीताजीकी विपत्ति कही और श्रीरामजी सुनकर सजलनयन हुए। अतएव श्रीसीताजीकी विपत्ति निश्चित हुई। और भक्तको विपत्ति न चाहिये, इसीसे हनुमान्‌जीने दो ही बातें कहीं और दोनोंको सिद्ध किया—'स्मरण होता है इससे विपत्ति नहीं है। भजन नहीं होता, यही विपत्ति है।' स्मरण और भजन दो बातें हैं; यथा—'*कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥*' (७। ८८) नामस्मरण 'सुमिरन' है। यथा—'*रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥*' (१। ६०), '*रामनाम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥*' (५। ६) भजन सेवा है—*भज सेवायाम्।*

नोट—१ अभिप्रायदीपककार लिखते हैं कि '*सहित नाह बिनु पति कहे कहे नाह जुत नाह। सुनि कौसहु पतिजुत कहे रहित रूप दुख छाँह॥*' (४०) अर्थात् बिपति=बिना पतिका=पतिरहित। श्रीसीताजी तो सदैव प्रभुको हृदयमें बसाये रहती हैं पर हनुमान्‌जी उनको बिना पतिका कहते हैं। उसपर स्वामी श्रीरामजीने कहा कि—'*सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही*' अर्थात् वे तो सदा पतियुक्त हैं, उन्हें विपत्ति कैसी? प्रभुके वचन सुनकर और उनका आशय समझकर श्रीहनुमान्‌जीने भी उनको पतियुक्त कहा। अर्थात् कहा कि मनसे तो वे सेवा करती हैं पर प्रत्यक्ष सेवा नहीं होती, यही विपत्ति है।

* 'केतिक बात......।' प्रियंम्बदा, 'रिपुहि......' से (८) तक पादाकुलक है।

नोट—२ श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीको मन, कर्म और वचन तीनोंसे प्रभुके चरणोंमें रत कहा है, यथा—*'नाम पाहरू राति दिनु ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित॥'* (३०) और सीताजीके संदेशमें भी यह बात कही गयी है, यथा—*'मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥'* (३१। ४)—यह सब कहकर अन्तमें श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि *'सीता कै अति बिपति बिसाला।'*—इसीपर श्रीरघुनाथजीका कहना है कि जिसको मन, कर्म, वचनसे हमारी ही गति है, उसको विपत्ति स्वप्नमें भी न होनी चाहिये। इसमें मेरी समझमें दो भाव हैं। एक तो यह कि उसमें विपत्ति कहना विरोधाभास है। क्योंकि केवल मनके ही अनुरक्त होनेसे तनको दुःखका भान नहीं होता, यथा—*'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥'* (२। २७५) तब जहाँ मन, तन और वचन तीनों रघुनाथजीमें लगे हैं वहाँ तो स्वप्नमें भी विपत्तिका नामनिशान कहाँ हो सकता है? दूसरे यह कि प्राणप्रिया बड़ी विपत्तिमें है यह सुन प्रभु भी दुःखित हुए और ग्लानिपूर्वक कहने लगे कि सत्य ही उसको हमारे होते हुए विपत्ति न होनी चाहिये थी, शोक है कि मैं अबतक उनको विपत्तिसे न छुड़ा सका।—यही सोचकर तो *'भरि आए जल राजिवनयना।'* श्रीहनुमान्‌जी यही दोनों भाव समझे, इसीसे दोनोंके उत्तरमें उन्होंने दो वचन कहे। पहलेके उत्तरमें कहा कि—*'बिपति प्रभु सोई'*""।' और दूसरेके उत्तरमें कहा कि *'केतिक बात प्रभु'*""।'

शंका—'तब क्या सीताहरणसे लेकर अग्निपरिशोधनतककी विपत्तिको झेलकर भी श्रीजनकनन्दिनीजी विपद्‌ग्रस्ता नहीं थीं? अथवा उपर्युक्त प्रसङ्ग भगवत्-भागवतके मनोविनोदार्थ युक्तिमात्र ही है?'

किसी महानुभावकी इस शङ्काका टिप्पणी १ में दिया हुआ ही समाधान करके फिर वे० भू० जी लिखते हैं—परंतु लङ्कामें जब-तब (यदाकदा) जितनी देरतक कभी रावणके कारण और कभी रावणप्रेरित निशचरियोंके कारण स्मरण एवं ध्यान छूट जाता है, उतनी देरतक अति विशाल विपत्ति रहती है। भगवद्ध्यान-स्मरणमें लीन अध्यात्मतत्त्वज्ञ महारथियों परम भागवतोंका अनुभव है कि—'**सा हानिस्तन्महच्छिद्रं तद्धि दुःखं महत्तमम्। यदा पुंसो हरेर्नामविस्मरणं किल जायते॥**' (भक्तिरसायन) हा! हन्त!! कहाँ तो क्षणमात्रके स्मरण-विस्मरणको महत्तम दुःखका अनुभव किया जाता था और कहाँ आज क्षणमात्र भी समुचित रूपेण सुमिरन-भजन नहीं हो पाता तब भी हमलोगोंको पश्चात्ताप नहीं होता।

नोट—३ स्मरण रहे कि समस्त प्राचीन प्रामाणिक पोथियोंका पाठ 'तव' ही है, 'तब' पाठ किसीमें नहीं है।

वि० त्रि०—श्रीहनुमान्‌जी विपत्तिकी परिभाषा बतलाते हैं। जिस समय सुमिरन-भजन न हो उसी समयका नाम विपत्ति है। सुमिरन-भजन न होनेका मतलब संसारकी ओर उन्मुख होना है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि मनका बहिर्मुख होना ही विपत्ति है। शङ्करभगवान् कहते हैं कि *'सत हरि भजन जगत सब सपना।'* 'सपना' का भाव यह है कि सब जगत् क्षणभङ्गुर है। क्षणभङ्गुरका नाश ही होगा, अतः उसमें मन लगानेवालेको पदे-पदे विपत्ति है।

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीरामजीका प्रश्न बहुवचनमें अपने भक्तोंके लिये है और हनुमान्‌जीका उत्तर भी बहुवचनमें है; अर्थात् आपके भक्त दो प्रकारके हैं—एक आपके नामका सुमिरन करनेवाले हैं और दूसरे आपका भजन (सेवा) करनेवाले; परंतु इस प्रश्नकी मुख्य कारण श्रीसीताजी हैं; उन्हींके लिये प्रश्न और उत्तर हो रहा है। श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि जो आपका नाम-स्मरण करनेवाले हैं उनके स्मरणमें बाधा पड़ती है तो उनकी विपत्ति वही है और उनके लिये दूसरी कोई विपत्ति नहीं है। पुनः जो आपकी सेवा करनेवाले भक्त हैं। आपकी सेवामें जब बाधा पड़ती है, उनसे आपकी सेवा नहीं होती तो उनकी विपत्ति वही है और दूसरी विपत्ति उनके लिये नहीं है। अतः जानकीजी सेवा करनेवाले भक्तोंमें हैं। आपकी सेवा उनसे छूटी हुई है। इसलिये उनकी विपत्ति यही है। रह गया जो वे नामका सुमिरन और ध्यान कर रही हैं वह तो श्रीरामजीके वियोगमें कर रही हैं, नहीं तो संयोगमें सिवा सेवाके दूसरी भक्ति नहीं करतीं; क्योंकि संयोगमें उसका मौका ही नहीं है।'

टिप्पणी—२ *'केतिक बात प्रभु जातुधान की'* इति। यथा—*'देखी मैं दसकंठ सभा सब मोतें कोउ न सबल तौ॥'* (गी० ५। १३) अथवा, आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, आपके सामने राक्षस क्या चीज हैं? उनका मारना कुछ बात नहीं है।

नोट—४ *'केतिक""आनिबी'* इति। इसमें तीन अर्थ और भाव हैं। एक तो यह कि राक्षसोंका नाश करना आपके लिये कोई बड़ी बात नहीं है, यही बात हनुमान्‌जीने श्रीसीताजी और रावणसे कही है, यथा—*नतु कहँ रघुपति-सायक-रबि तम-अनीक कहँ जातुधान की।', 'रावन जुपै राम रन रोषे। को कहि सकै सुरासुर समरथ बिसिष काल दसननि ते चोषे।'*—(गी० ५। ११। १२), *'रामबान-रबि उएँ जानकी। तम-बरूथ कहँ जातुधान की॥'* (५। १५); और आगे स्वयं प्रभुने कहा है—*'जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनइ निमिष महँ तेते॥'* (५। ४४)—तब चिन्ताकी क्या बात? आप उन्हें शीघ्र ले आवेंगे। दूसरे, यह कि आपकी आज्ञा हो तो आपकी कृपासे मैं ही सबको जीतकर ले आऊँगा। यथा—*'जौ हौं प्रभु आयसु लै चलतो। तौ यहि रिस तोहि सहित दसानन जातुधान दल दलतो॥ रावन सो रसराज सुभट-रस सहित लंक खल खलतो। करि पुटपाक नाक-नायकहित घने-घने घर घलतो।""'* (गी० ५। १३), *'अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं""'* (५। १६)। भाव कि मैं सेवाके लिये तैयार हूँ, आप शोच न करें। तीसरे यह कि हम सब भी साथ चलें, चलकर ले आइये। 'आनिबी' में तीनों भावार्थ हैं।

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥५॥

अर्थ—(श्रीरामजी बोले—) हे कपि! सुन; तेरे समान उपकारी सुर, नर, मुनि कोई भी शरीरधारी नहीं है॥ ५॥

नोट—१ इस चौपाईकी जोड़का श्लोक अध्यात्ममें यह है—**'हनूमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम्। उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः॥'** (५। ५। ६०) अर्थात् तुमने जो कार्य किया है वह देवताओंसे भी होना कठिन है, मैं इसके बदलेमें तुम्हारा क्या उपकार करूँ—सो नहीं जानता। और, वाल्मी० युद्धकाण्डमें उपकार माननेका कारण यह कहा है कि 'देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस और उरग आदि किसीका भी सामर्थ्य नहीं कि लंकापुरीमें पहुँचकर जीते-जी वहाँसे लौट आ सके और हनुमान्‌जीके अतिरिक्त किसीकी मजाल नहीं, ताब नहीं, शक्ति नहीं कि अकेला उसमें प्रवेश कर सकता। उनके सीताजीका समाचार ले आनेसे मैं तथा बलवान् लक्ष्मण तथा अन्य रघुवंशियोंका धर्म बच गया। मुझे एक बात बहुत खटक रही है कि मैं इस प्रिय संवाददाताको इस कार्यके अनुरूप कुछ भी पारितोषिक नहीं दे सकता। यथा—**देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। अप्रधृष्यां पुरीं लङ्कां रावणेन सुरक्षिताम्॥ ""प्रविष्टः सत्त्वमाश्रित्य जीवन् को नाम निष्क्रमेत्॥ ""अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः। वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः॥ इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति। यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम्॥'** (६। १। ४—१२)—ये ही कारण यहाँ समझना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) सुर-नर-मुनिका ऋण जगन्मात्रपर है। यथा—**'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्॥** इति। (मनु०) देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण सबपर रहता है। सो ये तीनों भी तुम्हारे ऋणी हुए। ये भी तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं कर सकते (तात्पर्य कि सुर-नर-मुनि सबको रावण दुःख देता है। तुमने उसका मान भङ्ग करके सबको सुख दिया)। ये तीनों विशेष उपकारी होते हैं; और जीव वैसा उपकार करना नहीं जानते। अतएव प्रधान तीन ही लिखे और जितने देहधारी जीव हैं, उनको गौण रखा। अभिप्राय यह है कि कपितनसे जो उपकार तुम्हारे द्वारा हुआ, वह सुर-नर-मुनि-तनसे किसीसे नहीं हुआ। अथवा, (ख) तुम्हारे समान हमारा उपकारी कोई नहीं है। तात्पर्य यह कि हनुमान्‌जीके *'रिपुहि जीति आनिबी जानकी'* ये वचन सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये। जैसे—*'सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥'* सुग्रीवजीके इन वचनोंको सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये थे। यथा—*'सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव॥'* (४। ५) अतः यह कहकर अपनी प्रसन्नता प्रदर्शित की। अथवा, (ग)—जब उपकार करके ईश्वरको ऋणी बनाया तब सुर-नर-मुनिने हनुमान्‌जीको बराबर उपकारी कहा है कि किसने ऐसा काम किया है? किसको ईश्वरने ऐसा कहा है?

नोट—२ (क) अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंके उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार उपर्युक्त टिप्पणी—१ (ख) का भाव अधिक प्रसंगानुकूल जान पड़ता है। भाव यह है कि यह दुष्कर कार्य कोई और कर ही नहीं सकता था; क्योंकि सभी रावणसे भयभीत रहते हैं; दूसरे वे सब स्वार्थी होते हैं; यथा—'*सुर नर मुनि सब कैं यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥*' और तुमने स्वार्थरहित उपकार किया है। अतएव ऐसा उपकार करनेवाला कोई नहीं। (ख) सुरसे स्वर्गलोक और नर-मुनिसे भूलोक कहे। दोनों लोकोंमें कोई नहीं। पाताललोकको न कहा, क्योंकि वे तो शत्रु ही हैं, वहाँ उपकारीका नाम ही कहाँ।?

रा० शं०—कोई ऐसा उपकारी नहीं—सुग्रीव वालीके डरसे मारे-मारे फिरते थे। उनकी प्रभुसे मित्रता कराके उनका दुःख मिटाया। वानर प्यासे मरते थे उनको बचाया। समुद्रतटपर सब अनशनव्रत करने लगे तब समुद्र पारकर लंकामें जाकर सीताजीका समाचार लाकर सबके प्राण बचाये।

प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥६॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥७॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥८॥

अर्थ—मैं तेरा क्या प्रत्युपकार करूँ (तुम्हारे उपकारके बदलेमें क्या उपकार करूँ?) मेरा मन भी तेरे सम्मुख नहीं हो सकता॥६॥ हे पुत्र! सुन, मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता, मैंने मनमें (खूब) विचारकर देख लिया है॥७॥ देवताओंके रक्षक प्रभु बारम्बार कपिको देखते हैं, उनके नेत्र सजल हैं और शरीर अत्यन्त पुलकित है (रोमावलि खड़ी है)॥८॥

टिप्पणी—१ '*सनमुख होइ न सकत मन मोरा*' इति। भाव कि—(क) उपकार समझकर मन थक जाता है, वहाँतक नहीं पहुँचता, तब तनसे क्या कर सकता हूँ? अथवा, (ख) प्रत्युपकारके योग्य कुछ भी मेरे मनमें आता ही नहीं। अथवा, (ग)—जब प्रत्युपकार कुछ भी नहीं बन पड़ता तब लोग लज्जित हो जाते हैं। मैं तुम्हारा कुछ प्रत्युपकार नहीं कर सका, इसीसे मेरा मन सम्मुख नहीं होता। अर्थात् मैं मनसे लज्जित हो रहा हूँ। (घ) यहाँ प्रभुने मन, कर्म, वचन तीनोंसे अपनी हार दिखायी—'*सनमुख होइ न सकत मन मोरा*' (मन है), '*कपिहि चितव सुरत्राता*' (कर्म है), '*प्रति उपकार करौं का*'—(वचन है)।

टिप्पणी—२ '*सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं*···' इति। (क) विचार कर देख लिया; यथा—'*एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥ नाहिंन तात उरिन मैं तोहीं।*' (भरतवाक्य हनुमान्-प्रति ७। २) पुनः, यथा—'*अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि-पुनि रमा। का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥*' (६। १०६ श्रीजानकी-वाक्य हनुमान्-प्रति) (ख)—ऋणी जब 'व्योहर' (व्यवहारी) से उऋण नहीं होता तब आँख सामने नहीं कर सकता, यह सब ऋणियोंकी रीति है।

नोट—१ यहाँ कृतज्ञताकी इति है। इनमें गूढ़ ध्वनि यह है कि प्रत्युपकार तो उसके साथ किया जाता है जिसके मनमें कोई इच्छा वर्तमान हो, परन्तु तुम्हारे हृदयमें स्वार्थका लेश भी नहीं है, तब मैं क्या कर सकता हूँ? (वीरकवि)

नोट—२ हनुमन्नाटकमें प्रभुने कहा है कि मैं चाहता हूँ कि प्रत्युपकारका विचार भी मेरे मनमें न आवे। क्योंकि ऐसा विचार करना मानो यह मनाना है कि जिसने हमारे साथ उपकार किया, वह भी ऐसी ही विपत्तिमें पड़े, जिसमें हम बदला चुका दें। अतएव '*तोहि उरिन मैं नाहीं*' कहकर सूचित करते हैं कि ऐसा कभी भी अवसर न पड़े। यही ठीक है कि मैं ऋणी ही बना रहूँ। (प्र०)

नोट—३ कालनेमिका वध करके द्रुहिणगिरि लानेपर ऐसा कहा गया है। यथा—'**एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे। प्रत्यक्षं क्रियमाणस्य शेषस्य ऋणिनो वयम्॥ अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। भवान्प्रत्युपकारार्थमापत्सु लभतां पदम्॥**' (हनु० ना० १३। ३५-३६) अर्थात् हे वानर! प्रत्यक्ष किये हुए तुम्हारे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं प्राणदान कर दूँ, पर शेष उपकारोंके लिये तो मैं ऋणी ही हूँ।

अर्थात् लक्ष्मणजीके प्राणदानके बदले मैं तुम्हे प्राण दे दूँ, परन्तु समुद्रलङ्घन, सीताशोध आदिके प्रत्युपकार करनेमें मैं असमर्थ हूँ, अतः ऋणी हूँ। हे कपिराज! तुमने जो उपकार किये हैं वे मेरे शरीरमें ही जीर्ण हो जायँ, तुम्हारे प्रत्युपकारके लिये आपत्तियोंमें स्थानको न पावें। अर्थात् तुम्हारे शरीरमें कभी आपत्ति ही न हो कि हम उन उपकारोंका प्रत्युपकार करें। यही बात वाल्मीकीयमें उत्तरकाण्ड सर्ग ४० में श्लोक २२ व २३ में कही है, किंचित् शब्दोंका हेर-फेर है, अर्थ वही है।

नोट—४—इस कथनसे प्रभुके शील-स्वभाव तथा प्रीतिकी रीतिकी जानकारीमें परम प्रवीणता भी दिखायी है। यथा—*'सुनि सीतापति सील सुभाउ।''''कपिसेवाबस भये कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ। दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ॥'* (विनय १००), *'जानत प्रीति रीति रघुराई।''''प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु तिभुवन तिहुँ काल न भाई। तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई॥'* (विनय० १६४)—यही प्रेमकनौड़ापन यहाँ भी कहा है।

नोट—५—उपकार करनेमें *'सुनु कपि'* कहा, क्योंकि कपितनसे उन्होंने उपकार किया है और उऋण न होनेमें *'सुनु सुत'* कहा, क्योंकि पिताको पुत्र अत्यन्त प्यारा होता है, वह कभी स्वप्नमें भी नहीं चाहता कि पुत्रपर कोई भी विपत्ति आवे, कभी पुत्रके साथ ऐसी प्रत्युपकारकी भावना उसके जीमें नहीं आनेकी। उसी भावसे 'सुत' सम्बोधन किया। पुनः, यहाँ यह भी दिखाया कि श्रीजानकीजीने उनको *'सुत'* मान लिया है, यथा—*'हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना', 'अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू॥'*; अतएव अब प्रभुने भी सुत मान लिया और उनके दिये हुए आशीर्वादको यहाँ चरितार्थ कर दिया। ☞ स्मरण रहे कि श्रीरघुनाथजीसे प्रथम भेंटमें जो हनुमान्‌जीने कहा था—*'सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥'* (४। ३), उसमेंसे सेवक तो पूर्व ही मान लिया था—*'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥'* (४। ३) और सुत अब ऋणी होनेपर मान लिया। इस प्रकार 'सुत' शब्दसे भगवान्‌ने उस सम्बन्धका समर्थन किया जिस सम्बन्धको महारानीजीने मानकर श्रीहनुमान्‌जीको आशीर्वाद दिया है। यह महारानीजीका पुरुषकारत्व सिद्ध हुआ।

प० प० प्र०—१ पूर्व ३० (८) में *'कहहु'* बहुवचनका प्रयोग किया है। अब यहाँसे *'तोरा' 'सुत' 'तोहि'* इत्यादि एकवचनके प्रयोग हैं। यह भेद परम प्रसन्नताका सूचक है। यह सिद्धान्त प्रभु-नारद-संवाद (अरण्यकाण्डमें स्पष्ट) किया। *'सुत'* शब्दसे दोनोंकी समानता बतायी गयी—**'आत्मा वै पुत्र नामासि'** (श्रुति)।

प० प० प्र० २ सुतका जन्म प्रथम माता ही जानती है तब पिता। इसीसे प्रथम श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीको सुत बनाया तब श्रीरामजीने। यह कविका व्यवहार मर्यादा-पालन-कौशल धन्य है!

मा० त० सु० (क) यहाँ *'सुत'* शब्दसे सम्बोधन अतिस्नेहसूचक है। (ख)—*'करि बिचार'* का भाव कि जन्मसमय देवताओंके वरद्वारा तुम सब कुछ पा ही चुके, फिर किशोरीजी तुमको सब कुछ दे ही चुकीं। अब क्या रहा जो मैं दूँ और फिर तुम सब प्रकारकी वासनाओंसे रहित हो। अतएव उऋण नहीं हो सकता।

टिप्पणी—३ *'पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता'।* (क) बार-बार देखनेका कारण यह है क मन सम्मुख नहीं होता, इसीसे नेत्र भी सम्मुख नहीं होते। देखा कि दृष्टि सामनेसे नीचे हो जाती है। देखकर तुरंत आँख नीची कर लेते हैं। यदि एकबारगी एकटक देखते रहते तो *'चितइ रहे'* ऐसा लिखते; यथा—*'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥'* (१। २६९) (ख) *'पुनि पुनि'* अर्थात् एक बार देखा, फिर सिर नीचा कर लिया, फिर देखते हैं, फिर दृष्टि नीचे कर लेते हैं; इस प्रकार देखते हैं। तात्पर्य कि आँख सामने जाते ही मनमें लज्जित हो जाते हैं। पुनः भाव कि देखनेसे तृप्ति नहीं होती, इससे बारंबार देखते हैं। यथा—*'पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू। पुलकगात उर अधिक उछाहू॥'* (१। २१७) अथवा प्रेमके कारण बारम्बार देखते हैं। यथा—*'कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपा सिंधु रनधीरहि॥'* (७। ७), *'पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मन सकुचै न॥'* (बा० ३२६) उत्तरार्द्धमें प्रेमकी दशा भी दिखाते हैं—*'लोचन नीर''''।'* अतएव सिद्ध हुआ कि प्रेमके कारण बारंबार देखते हैं। (ग) ☞ देखिये

जिनकी कृपादृष्टिके लिये देवगण तरसते हैं, चाहते हैं कि प्रभु हमारी ओर एक बार कृपादृष्टिसे देख लें, यथा—'*अब करि कृपा बिलोकि मोहि आयसु देहु कृपाल*' इति इन्द्रः। (६। ११२), '***मामवलोकय पंकजलोचन। कृपाबिलोकनि सोच बिमोचन॥***' इति नारद। (७। ५१); '***रघुनंद निकंदय द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीनजनं॥***' इति शिवः। (७। १४); वे ही रामजी बारंबार हनुमान्‌जीकी ओर देखते हैं कि इसने हमारा बड़ा काम किया, हमारे साथ बड़ा उपकार किया।

टिप्पणी—४ '*सुरत्राता*' का भाव कि जो प्रभु देवताओंका उपकार कर रहे हैं वे ही कपिके उपकारके वश हो गये।

टिप्पणी—५ जैसे भक्त भगवान्‌को देखकर पुलकित होता है, वैसे ही भगवान् भक्तको देख-देखकर पुलकित हो रहे हैं। यथा—'*मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥*' (७। ५०), (भक्त) और यहाँ '*लोचन नीर पुलक अति गाता*'।

दो०—सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥३२॥
बार बार प्रभु चहैं* उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा†॥१॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर और मुख एवं शरीर देखकर हनुमान्‌जी शरीरसे पुलकित एवं हर्षित और प्रेमसे व्याकुल होकर '*त्राहि त्राहि भगवंत*' अर्थात् 'हे भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये'—यह कहते हुए प्रभुके चरणोंपर पड़ गये॥३२॥ प्रभु उनको बार-बार उठाना चाहते, परंतु हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हैं, अतः उन्हें उठाना नहीं सुहाता॥१॥

*** काण्डका नाम 'सुन्दर' क्यों पड़ा ***

मा० हं०—१ रामायणके काण्डोंका नाम-निर्देश नायककी अवस्था, स्थल और क्रियापर ध्यान रखकर ही किया गया दिखता है। इस पद्धतिके अनुसार इस काण्डको 'सीताशुद्धिकाण्ड' अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा नाम देना चाहिये था; परंतु सबसे पहिले वाल्मीकिजीने ही इसे 'सुन्दर' नाम दिया और बादमें उसी नामका प्रचार हुआ। २—यथार्थमें इस काण्डको ही 'सुन्दर' कहनेसे ऐसा हो गया कि बाकी सब काण्ड सुन्दर नहीं हैं। यह ध्वनि क्या वाल्मीकिजीकी समझमें न आयी होगी? तो भी उन्होंने इस काण्डका वही नाम रखा है—इसका कारण क्या होगा? इस प्रश्नका विचार होना आवश्यक है। ३—जब ऐसा निश्चय हो जाता है कि असाध्य वस्तुके साध्य होनेके साधन आकस्मिक योगसे प्राप्त हो जाते हैं, तब भावी आनन्दकी प्रभा एकदम चित्तपर झलकने लगती है। रावणके कुलक्षयका मुख्य साधन सीताशोध था। श्रीहनुमान्‌जीद्वारा उस साधनके हाथमें अकस्मात् उपस्थित होनेसे रामजी एकदम आनन्दमें मग्न हो गये। यह आनन्दकी अवस्था बहुत ही सुन्दर रहती है। श्रीरामजीकी इसी अवस्थाका निदर्शक समझकर आदिकविने इसे 'सुन्दरकाण्ड' का प्रेमयुक्त नाम दिया होगा।

एक दूसरी कल्पना यह भी है कि वाल्मीकि और अध्यात्म दोनों रामायणोंका सुन्दरकाण्ड, सीताशोध तथा हनुमान्‌जीके प्रेमानन्दतक है। इस राम-हनुमान्-प्रेमकी समरसताका परिणाम, वाल्मीकिजीको भी समरस करनेमें हुआ ही होगा, क्योंकि गोसाईंजीकी भी वह समरस अवस्था हुई थी। यह हमें उन्हींके '***सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥ ३१॥ बार बार प्रभु चहैं उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभुपद पंकज कपिकें सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥ सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥***' इन शब्दोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है।

---

* चहहिं—(ना० प्र०)। चहइ—गी० प्रे०। चहैं—भा० दा०)।

† दो० ३२ दोहा दोहरामिश्रित है (१) (२) पायकुलक। (ब्र० चं०)

इसी समरस अवस्थाका सूचक (या उपलक्षण) समझकर इस काण्डको 'सुन्दर' विशेषण आदिकविने यदि प्रेम और गौरवसे दिया हो, तो वह भी बिलकुल स्वाभाविक हो सकता है। हर तरहसे देखनेसे हमारा अभिप्राय यही होता है कि काव्यगुणकी दृष्टिसे काण्डका तारतम्यभाव सोचकर इस काण्डका नाम 'सुन्दरकाण्ड' नहीं रखा गया है। यह नाम रामजीके अथवा कविके प्रेमाविष्कारसे, (अथवा, हनुमान्‌जीको यदि उपनायक समझें तो उनके प्रेम प्रागल्भसे) धरा गया होगा।—मं० श्लो० १ भी देखिये।—[☞ गोस्वामीजीके इस ग्रन्थमें इस काण्डका नाम 'पंचम सोपान' है। अथ और इति दोनोंमें यही नाम है।]

श्रीगौड़जी—इस काण्डका नाम 'सुन्दर' क्यों पड़ा, इसपर लोग अनेक कल्पनाएँ करते हैं। इसके सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—**'सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा। सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्॥'** भाव यह कि सुन्दरकाण्डमें सुन्दर राम और सुन्दरी सीताकी सुन्दरी कथा दी हुई है, इसीलिये इसका नाम सुन्दरकाण्ड है। परंतु इस युक्तिमें यह दोष है कि राम और सीताकी कथा तो सारी रामायणमें दी हुई है। काव्यका सौन्दर्य तो हर काण्डमें अपने-अपने ढङ्गपर अपूर्व है। यदि सुन्दरताके ही विचारसे इस काण्डको सुन्दरकाण्ड कहा जाय तो और काण्डोंको इसकी अपेक्षा असुन्दर ठहराना पड़ेगा। इसके कथाभागमें भी प्रधानता राम और सीताकी नहीं है। इस काण्डके मुख्य नायक हनुमान्‌जी हैं। जिनसे कि सुन्दर शब्दसे कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक काण्डका नामकरण किसी-न-किसी विशेष कारणसे हुआ है। जिसमें उसके नायकका कोई-न-कोई विशेष सम्बन्ध है। बालकाण्डके नायक चारों कुमारोंके बालचरितपर बालकाण्डका नाम रखा गया है। अयोध्याकाण्ड इसलिये नाम पड़ा कि सारी घटनाएँ अयोध्याके राज्यके सम्बन्धमें हुई हैं। अरण्य या वनकाण्ड इसलिये कहा गया कि वनवासका सबसे अधिक समय दण्डकारण्यमें बीता। किष्किन्धाकाण्डकी सारी घटनाएँ किष्किन्धामें हुई हैं। लङ्काकाण्डकी सारी घटनाएँ लङ्कामें हुई हैं। राज्यसिंहासनपर बैठनेके बादकी कथाएँ उत्तरकाण्डमें आयी हैं। उत्तरका अर्थ ही है पीछेका। इस तरह प्रत्येक काण्डका नाम किसी विशेष प्रयोजनसे रखा गया है, उस काण्डमें वर्णन किये गये विषयकी ओजस्विता, माधुर्य, प्रसाद या सौन्दर्य आदि गुणोंके ऊपर नामकरण नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो लङ्काकाण्डका नाम ओजस्वीकाण्ड होता। बालकाण्डका नाम मधुरकाण्ड होता। अयोध्याकाण्डका नाम कारुण्यकाण्ड होता। अरण्यकाण्डका नाम वियोगकाण्ड होता। किष्किन्धाकाण्डका नाम मैत्रीकाण्ड होता। परंतु रामायणी कवियोंने नामकी ऐसी कल्पना नहीं की। मेरी रायमें इस काण्डका नाम उस गिरिशिखरके नामसे पड़ा है जिसपरसे समुद्रलङ्घनके लिये हनुमान्‌जीने पहिली छलाँग मारी है। उस शिखरका नाम सुन्दर था, ऐसा कई लोगोंका मत है। हनुमान्‌जीके उस चरित्रका इस काण्डभरमें वर्णन किया गया है जिसका आरम्भ सुन्दर नामक शिखरसे हुआ था, इसलिये सुन्दरकाण्ड स्थानवाचक नाम है। (विशेष मं० श्लो० १ में लिखा जा चुका है)।

टिप्पणी—१ (क) ***'सुनि प्रभु बचन।'*** प्रभुकी आज्ञा थी कि ***'सुनु सुत', 'सुनु कपि'*** इसीसे उनके बचनका सुनना कहा। ***'प्रभु'*** का भाव कि कहाँ वे ऐसे समर्थ स्वामी और कहाँ उनके ऐसे दीन वचन कि ***'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'***? (ख) 'बिलोकि मुख' से जनाया कि जब प्रभु प्रशंसा करने लगे ***'सुनु सुत तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ ……'*** तब हनुमान्‌जीने सकुचकर सिर नीचे कर लिया था, जैसा कि सत्पुरुषों, शिष्टलोगों, संतोंका सहज स्वभाव है; यथा—***'निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं।'*** (३। ४६) अब प्रभुके वचन सुनकर मुखकी ओर देखा कि आपसे हद है, आप हमारी प्रशंसा कर रहे हैं, और 'गात' (शरीर) की ओर देखा कि आप मुझे देखकर 'अति पुलकित' हो रहे हैं।

टिप्पणी—२ ***'त्राहि त्राहि भगवंत'*** अर्थात् इस बड़ाईसे मेरी रक्षा कीजिये, बड़ाई, प्रशंसा भक्तके लिये बाधक हैं; यथा—***'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥'*** (३। ७)

नोट—१ ***'त्राहि त्राहि भगवंत'*** इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीने सोचा कि ऐसे समर्थ प्रभु कि जिनके प्रतापसे ***'बड़वानलहिं जारि सकै खलु तूल।'*** और ***'गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल'***—(ये दोनों उक्तियाँ श्रीहनुमान्‌जीकी

ही हैं। प्रथम उक्ति आगे दोहा ३३ में है और दूसरी उक्ति पूर्व दोहा १६ में किशोरीजीसे कही गयी है)—एवं जो *'मसकहिं करहिं बिरंचि अजहिं मसक ते हीन'* वे मेरे ऋणी बनते हैं और कहते हैं कि *'सनमुख होइ न सकत मन मोरा'* इससे बड़ा भारी भय मुझे अभिमानरूपी शत्रुका है, इस बड़ाईसे मुझे अहङ्कार न उत्पन्न हो जाय, कहीं इस माधुर्यमें मैं भूल न जाऊँ, मुझे प्रभुकी बलवती माया न धर दबावे! इन्हीं शत्रुओंसे बचनेके लिये वे *'त्राहि त्राहि'* कर रहे हैं। तात्पर्य कि मैं इस बड़ाईके योग्य नहीं, ऐसा न कीजिये कि मुझे अभिमान हो जाय और मैं आपको खो बैठूँ; यथा—*'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥'* (उ० ६२) (ख)—हनुमान्‌जीके उपकारसे स्वामीके मनमें संकोच हुआ और उससे भूरि-भूरि कृतज्ञता प्रकाशकर वे ऋणी बने, इससे हनुमान्‌जीके हृदयमें व्रीड़ा, हर्ष, चपलता, आवेग, त्रास आदि संचारी भावोंका उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलङ्कार' है। व्रीड़ा—स्वामिप्रदत्त विशेष मानमर्यादासे। हर्ष—स्वामीकी प्रसन्नतासे, चपलता—अत्यन्त प्रेमसे। आवेग—मुझे मान न उत्पन्न हो, इस भयसे। त्रास—चित्तकी विह्वलतासे प्रेममें मग्न होकर स्वामीके पाँवपर पड़ना और त्राहि-त्राहि करना, इन दोनों अनुभावोंसे उपर्युक्त भावोंकी पुष्टि होती है। (वीरकवि) (ग)—हनुमान्‌जी चरणपादुकाके अवतार हैं, अतः चरणोंपर पड़ना योग्य ही है, इसीसे उठते भी नहीं (बन्दनपाठकजी)। (घ)—यह प्रेमकी क्रान्त दशा है। (बैजनाथजी)

टिप्पणी—३ (क) *'भगवंत'* सम्बोधनका भाव कि आप ईश्वर हैं, ईश्वरका उपकार भला जीव क्या कर सकता है? (ख) इस दोहेमें हनुमान्‌जीका मन-वचन-कर्मसे शरण होना दिखाया।—*'हरषि'* (मन), *त्राहि......'* (वचन) और *'चरन परेउ'* (कर्म) हैं। और प्रभुने उनकी रक्षा की, इसीसे अभिमान नहीं हुआ, जैसा कि आगे कवि स्वयं स्पष्ट कहते हैं; यथा—*'बोला बचन बिगत अभिमाना।'* यदि रक्षा न करते तो अभिमान उत्पन्न हो जाता। आगे लङ्काकाण्डमें श्रीभरतजीके—*'चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपा निकेता॥'* (५९। ६) इन वचनोंको सुनकर अभिमान हुआ है, पर प्रभुका प्रभाव स्मरण हो आनेसे वह तुरंत ही दूर भी हो गया; यथा—*'सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥ राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी। तव प्रताप उर राखि.....।'*

टिप्पणी—४ *'बार बार प्रभु चहैं उठावा'''।'* इति। यथा—*'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥'* (७। ५ श्रीभरत-राम-प्रसङ्ग) 'बार-बार' उठानेका भाव कि—(क) न उठानेसे अनादर सूचित होता है और दास जल्दी उठ पड़े तो उसमें प्रेमकी न्यूनता पायी जाती है। पुनः, (ख) प्रभु हृदयसे लगानेके लिये उठाना चाहते हैं, जैसा आगे स्पष्ट करते हैं—*'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा'* और हनुमान्‌जीको उठना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि ये सेवक हैं, सेवक चरणके उपासक हैं, तब अपने इष्टदेवके परम श्रेयस्कर चरण पाकर कैसे छोड़ें? उधर जो दास चरणोंको नहीं छोड़ते उन्हें प्रभु हृदयसे लगाते हैं, यथा—**'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥'** अथवा, (ग) हनुमान्‌जीके वचन सुनकर प्रभु प्रेममें मग्न हो गये; यथा—*'लोचन नीर पुलक अति गाता',* इसी तरह श्रीरामजीके वचन सुनकर हनुमान्‌जी प्रेममें डूब गये। अन्योन्य प्रेम दिखाया।

मा० त० सु०—चरणोंपर गिरते ही प्रभुने *'उठावा'* अर्थात् हस्तावलम्बन दे दिया, तब उस समय श्रीहनुमान्‌जीने स्वच्छन्दतापूर्वक चरणरजका स्पर्श न पानेके कारण उठना नहीं चाहा। पुनः, भाव कि प्रभुके *'सनमुख होइ न सकत मन मोरा'* इन वचनोंको सुनकर भयभीत हो गये थे, अतएव चरणोंपर गिरे थे; जब प्रभुने उठाना चाहा तब हनुमान्‌जी अधिक भयभीत हो गये कि प्रभु मुझे दूर करना चाहते है; अतएव उन्होंने उठना न चाहा।

नोट—२ प्रभु उठाना चाहते हैं फिर वे क्यों नहीं उठते? इसका उत्तर वक्ता स्वयं देते हैं कि 'वे प्रेममें डूबे हैं'। प्रभुके चरणोंकी प्राप्ति, करकमलकी छाया ही नहीं, वरञ्च सिरपर साक्षात् करकमल रखा हुआ जानकर जो सुख वे अनुभव कर रहे हैं, उसको कौन जानता है? उस सुखको पाकर कौन उसे हटाना चाहेगा कि जिसकी दशामात्रका स्मरण करके गौरीश भी मग्न हो गये?

मा० त० सु०—शङ्का—भरतजीको प्रभुने बल करके उठाया था, यथा—*'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए।'* वैसे ही हनुमान्‌जीको क्यों न उठाया? समाधान—भरतजी यद्यपि दास्यभावसे पदपंकजपर पड़े, पर रघुनन्दनजीने विचारा कि यद्यपि इन्होंने दास्यधर्म स्वीकार किया है तथापि ये मेरे भाई हैं, अत: ये मेरे समान आदरणीय हैं। इनका स्थान बगल है और दासोंका स्थान चरण है; यथा—*'जनमे एक संग सब भाई।'''''बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'* अत: लौकिक रीतिसे प्रभुने भ्रातृभाव ही दिखलाया; इसीसे उनको तुरंत बलपूर्वक उठा लिया। किंतु श्रीहनुमान्‌जी तो सदाके दास हैं, इसीसे जब उठानेपर उन्होंने न उठना चाहा, तब यह विचारकर कि इस समय यह अपने परम धनको पाये हुए हैं, जब कुछ समयतक इसका अनुभव कर लें तब उठाऊँ।

प० प० प्र०—वाल्मीकीयमें इसके आगेकी सब कथा युद्धकाण्डमें है। मानसमें सागर-निग्रहतककी कथा सुन्दरकाण्डमें ही देकर कवि जनाते हैं कि इसके सप्तसोपान सप्तपुरियाँ हैं। सुन्दरकाण्ड काञ्चीपुरी है। काञ्चीमें दो विभाग हैं, शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची। श्रीहनुमान्‌जीका चरित कहकर यदि काण्डको समाप्त कर देते तो काञ्चीपुरी नाम अयथार्थ हो जाता। *'पवनतनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥'* पर शिवकाञ्ची (श्रीहनुमच्चरित्र) पूर्ण हो गयी। आगेके ३० दोहे विष्णुकाञ्चीके हैं; कारण कि इसमें मुख्यत: श्रीरामजीका ही चरित्र है। इस तरह सागर-निग्रह-कथापर इस काण्डकी समाप्ति करके इस काण्डको यथार्थत: काञ्चीपुरी सिद्ध किया।

प्रभु कर पंकज कपि के* सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥ २॥
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर†॥ ३॥

अर्थ—प्रभुका करकमल हनुमान्‌जीके सिरपर है। इस (प्रेमकी) दशाको स्मरण करके श्रीगौरीशजी (प्रेममें) मग्न हो गये॥ २॥ फिर मनको सावधान करके शंकरजी अत्यन्त सुन्दर कथा कहने लगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु कर पंकज कपिके सीसा'''।'* इति। (क)—हनुमान्‌जी महारुद्रावतार हैं, यह पूर्व लिखा जा चुका है। शिवजी यह विचारकर कि यह आनन्द और प्रेम उस रूपमें प्राप्त हुआ था, उस दशाको स्मरण करके, उसका ध्यान करके कि हमारे सिरपर प्रभु अपना हस्तकमल रखे हुए हैं, शिवजी उसकी दशामें स्वयं भी मग्न हो गये। वा, (ख) यह अलभ्य लाभ है। इसकी सभी महात्मा इच्छा करते है, यथा—*'कबहूँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे',* पर किसी-किसीको ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है। अतएव उस दशाको स्मरणकर उसमें मग्न हो गये।—[*'सुमिरि'* कहकर जनाया कि शिवजी अपने शिवरूपमें उस दशाको अनुभव नहीं कर सके। इसीसे तो वे राज्याभिषेकके समय *'अनपायिनी भक्ति'* की याचना करते है, यथा—*'बार-बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायिनी भगति सदा सतसंग॥'* (७। १४); और हनुमान्‌जीको तो तत्काल ही उसकी प्राप्ति हो गयी। जैसा आगे कहा गया है—(मा० त० सु०)। *'गौरीसा'* का भाव कि दशाको स्मरणकर सम्मुखोपस्थित गौरी-सी पत्नीको भी भूल गये। (मा० त० सु०)]

टिप्पणी—२ (क) सीताशोधके लिये किष्किन्धासे प्रस्थान करते समय भी श्रीरामजीने अपना करकमल हनुमान्‌जीके सिरपर रखा था और अब भी। *'परसा सीस सरोरुह पानी'* (४। २३) उपक्रम है और *'प्रभु कर पंकज कपिके सीसा'* उपसंहार है—प्राय: उपक्रम और उपसंहार किसी विषयके प्रतिपादनमें दिये जाते हैं। (ख) 'गौरीश' पदसे यह भी सूचित होता है कि गौरी और ईश (शंकर) श्रोता-वक्ता दोनों ही मग्न हो गये, कपि मग्न हैं और ग्रन्थकार भी। इसीसे कथाको *'अति सुंदर'* विशेषण दिया। [नोट—आगे शंकरजीका मन सावधान करना कहकर 'गौरीशका' अर्थ शंकरजी (गौरीपति) ही जनाया; गौरी और शंकर दोनों नहीं।]

प० प० प्र०—मनुजी, जटायुजी और भुशुण्डिजीके सिरपर हाथ रखनेकी कथा कहते समय शिवजी

* के—भा० दा०। कें—गी० प्रे०। कै—का०, ना० प्र०। हालना (भगवानदासजी) 'कै' को उत्तम कहते हैं'''।
† 'सावधान''''' १२१४ वाँ भेद है, 'लागे''''' ११६१ वाँ भेद है। (ब्र० चं०)

ऐसे प्रेममें मग्न नहीं हुए; केवल हनुमानजीकी कथा कहते समय *'प्रभु कर पंकज कपि के सीसा'* कहते ही *'सुमिरि सो दसा'* अर्थात् श्रीहनुमान्‌जीके शरीरमें पूर्वानुभूत दशाका स्मरण होते ही उसी दशामें गौरीश मग्न हो गये। इस कथनसे ध्वनित किया कि हनुमान्‌जी श्रीशिवावतार हैं।

वन्दनपाठजी—'यहाँ श्रीरामजी, हनुमान्‌जी और शिवजी तीनों प्रेममें मग्न हैं। इससे एकता दिखायी है।'

मा० म०—भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी अपना हाथ रखकर मानो अपना ऋण चुकाते हैं। उस ऋणमें रामचन्द्रजीने क्या दिया सो पानेवाला ही जान सकता है; क्योंकि जिसके स्मरणसे स्वयं शिवजी प्रेममें मग्न हो गये उसे दूसरा क्योंकर कह सकता है।

मा० हं०—*'सुनि प्रभु वचन……'* से *'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा'* तक, यह वर्णन वाल्मीकि और अध्यात्ममें नहीं है। यह गोस्वामीजीका निजका ही उनका भक्त्युद्रेक है। किं बहुना उसमें स्वामीजी ही प्रतीत हुए-से भावुकोंको दिखेंगे। इसका कारण उन्हींके ही प्रकट किये हुए इस संवादके निम्नलिखित माहात्म्यमें देखिये।—*'यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा॥'*

टिप्पणी—३ *'सावधान मन करि पुनि संकर।……'* इति। (क) पूर्व कहा कि *'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।'* इसमें मनका नाम न दिया और अब यहाँ कहते हैं कि मनको सावधान किया। कारण कि मन प्रेममें डूब गया था, इसीसे ग्रन्थकारने भी उसे शब्दोंमें प्रकट न किया था, अब जब सावधान हुआ तब उसे प्रत्यक्ष कहा। (ख) मनको सावधान किया। भाव यह कि जिस समयतक प्रभु श्रीहनुमान्‌जीके सिरपर करकमल रखे रहे, उस समयतक ये भी मग्न रहे। जब प्रभुने उठाकर हृदयसे लगाया तब शिवजी भी जगे और सावधान होकर कपिको उठाकर हृदयसे लगाया जाना कहने लगे। यथा—*'मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह॥'* [नोट—मेरी समझमें पं० रामकुमारजीका आशय यह है कि कथा कहते समय वह दृश्य श्रीशिवजीके मन:पटलपर प्रत्यक्ष हो रहा था।—विशेष १। १११ में देखिये।] (ग) 'शंकर' नाम दिया, क्योंकि सबके कल्याणार्थ कथा कहने लगे। (घ) *'कथा अति सुंदर'* का भाव कि सुन्दर तो ध्यान भी था पर कथा *'अति सुंदर'* है। प्रमाण यथा—*'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरिकथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥'* (उ० ४२) पुन:, 'अतिसुन्दर' विशेषण देकर जनाया कि कवि भी प्रेममें मग्न हो गये थे, विशेष्य-विशेषण समानाधिकरणकी खबर न रही, प्रेम-हृदयसे स्नान करके मन निकला, बस उसी मनसे कथा कहने लगे; इसीसे कथा अति सुन्दरी हुई।

नोट—१ *'अति सुंदर'* क्योंकि इस संवादका बड़ा भारी महत्त्व है कि बिना किसी साधनके सहज ही भक्ति प्राप्त होती है। केवल इतना ही हृदयमें लाना है कि किसपर किस रीतिसे कैसी कृपा की इत्यादि। (प्र०) विशेष प० प० प्र० की टिप्पणी देखिये।

श्रीलमगोड़ाजी—१ फिल्मकलाकी सुकुमारता तो जगह-जगह है ही, कहाँतक कही जाय? २—सारी कथा ही *'अति सुंदर'* है, एक किस अंशको लिया जाय? सच है—'सुत' और 'शिष्य' दोनों सूत्रात्मा ही हैं। भगवान्‌ने अपने मुख्य 'हरिजन', हनुमानजीको ही सेवा-भक्तिके मन्त्रकी दीक्षा दी थी।—*'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* (४। ३)—मैं तो इसीको रामायणका मूलमन्त्र समझता हूँ। आज नि:स्वार्थ हनुमान्‌जी सेवाका सर्टीफिकेट स्वामीकी कृतज्ञताके रूपमें पाते हैं और मग्न होकर स्वामीके चरणपर गिरकर ही प्रेम शरण लेता है। इससे सुन्दर और क्या कथा होगी? इसीसे तो शंकरजी, जो और प्रसंगोंमें मग्न नहीं हुए, यहाँ अपनेको न रोक सके और मग्न हो गये।—यह वास्तविक 'वहदानियत', *'एक-ईश्वरवाद'* है। शेखसादी भी कहते हैं—*'ऊ जाने-जहानस्त वो जहाँ जुम्ला बदन। तौहीद हमीनस्त वो दिगर शेवा वो फन॥'* (अर्थात् वह सारे जगत्‌की जान है और सारा जगत् उसका शरीर है। असल तौहीद यही है और सब ढोंग और धोखा है।)—इसीसे भुशुण्डिजीने भी कहा है कि—*'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।'* ३-मेरी समझमें इस *'अति-*

सुन्दर' कथाके कारण ही काण्डका नाम सुन्दर है। ☞ रचना, प्रसाद गुण तथा सरलता और सरसताका उदाहरण ही है। इसीसे बहुधा विद्यार्थियोंको यही काण्ड पहले पढ़ाया जाता है। ४—धन्य हैं श्रीहनुमान्‌जी जिन्हें भगवान्‌ने 'सुत' की उपाधि दी जो और किसीको नहीं मिली—(This is the peerage of राम-राज्य)। जस्टिस मेरे डथने,पटनाहाईकोर्टके जजकी हैसियतसे ठीक लिखा है कि सरकारी नौकर केवल ताज (Crown) का नौकर नहीं (भौतिक राज्यसत्ताका चिह्नमात्र), पर उसे अपनेको Servant of the Ideal (आदर्शका सेवक) ही मानना चाहिये। वह 'सेवा-आदर्श' इससे बढ़कर क्या होगा? काउन्ट टाल्सट्वाय भी समाजके आदर्शका मूल मन्त्र निःस्वार्थ सेवा तथा त्याग ही मानते हैं, Communism और Socialism (समाजवादके दो रूपों) के कृत्रिम साधन नहीं। ☞ सच है, रामराज्य (आदर्श राज्य) का यही मूल मन्त्र हो सकता है। H. G. Wells ने भी अपनी Modern Utopia में 'समुदाई' नामक सेवकसंघको ही आदर्शराज्य शैलीका आधार माना है और उनकी सेवा भी कुछ-कुछ ऐसी ही है।

प० प० प्र०—इस काण्डका समग्र चरित ही सुन्दर है तथापि यह चरित *'अति सुन्दर'* है। क्योंकि इसमें भगवान्‌ने हनुमान्‌जीको 'सुत' बनाया, उनके ऋणिया बने, इस एक ही प्रसंगमें अपने भक्तसे तीन बार मिले, बार-बार उनको उठाना चाहते हैं पर वे उठना नहीं चाहते, चरणकमलोंपर पड़े हैं और भगवान् बार-बार उनके सिरपर अपना करकमल फेर रहे हैं। भगवान् और भक्त दोनों प्रेममें मग्न हैं। भगवान् भक्तके मुखारविन्दको बारंबार देख रहे हैं, परम निकट बिठाते हैं, उसको अनपायिनी भक्ति प्रदान करते हैं।—यह कथा समग्र मानसमें एकमेवाद्वितीय, अति प्रलोभनीय, परम आदरणीय और चित्तको परम द्रवित करनेवाली होनेसे *'अति सुन्दर'* है।

कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥ ४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीको उठाकर प्रभुने हृदयसे लगाया और हाथ पकड़कर बिलकुल पास बिठा लिया॥ ४॥

नोट—१ भगवान्‌ने अपनेको ऋणी कहा और श्रीहनुमान्‌जीके कार्यके अनुरूप कोई पारितोषिक है ही नहीं जो देते, यह विचारकर सर्वस्वदान आलिङ्गन ही कार्यके योग्य पुरस्कार उनको दिया। यथा—'**एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः। मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥ इत्युक्त्वा प्रीतिहृष्टाङ्गो रामस्तं परिषस्वजे। हनूमन्तं कृतात्मानं कृतकार्यमुपागतम्**॥ (वाल्मी० ६। १। १३-१४) अर्थात् जो हो, इस समय मेरा यह सर्वस्व दानरूप आलिङ्गन ही महात्मा हनुमान्‌जीके कार्यके योग्य पुरस्कार हो, यह कहकर पुलकित शरीरसे श्रीरामजीने उनको गले लगा लिया। और अध्यात्ममें तो यह कहकर कि 'बदलेमें क्या उपकार करूँ—यह नहीं जानता' फिर तुरन्त कहते हैं कि—'लो, मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व सौंपता हूँ।' और ऐसा कहकर हनुमान्‌जीको खींचकर गाढ़ आलिङ्गन करके कहा कि—'संसारमें मुझ परमात्माका आलिङ्गन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम मेरे परम भक्त और प्रिय हो। यथा—'**उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः॥ इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते। इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम्॥''''''' परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः॥ अतस्त्वं मम भक्तोऽसि प्रियोऽसि हरिपुङ्गव**॥' (अ० रा० ५। ५। ६०—६३) ☞ गोस्वामीजीके 'राम' वाल्मीकीय और अध्यात्म कल्पके 'राम' से कहीं अधिक सुशील और संकोची हैं, तब भला वे अपनेको ऋणी कहकर फिर यह बातें कैसे कहते जो वाल्मीकीय आदिके 'राम' जीने कही हैं? तथापि *'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा'* मात्र कर्मसे मानसकविने उपर्युक्तभाव भी गुप्तरूसे दरसा दिये हैं कि यह आलिङ्गन सर्वस्वदानरूप है और परम दुर्लभ पदार्थ है—पर यह कार्यका पारितोषिक हो, यह कथन उनको न भाया।

नोट—२ '*कपि उठाइ*''''''' इति। चरणोंपर पड़ते ही प्रथम उठाना चाहा था पर प्रेममें मग्न होनेसे उठाना न भाया, तब प्रभुने प्रबोधके लिये करकमल सिरपर रख दिया। फिर देहाध्यासरहित देख जैसे चेतनाशून्यको उठाया जाय वैसे उठाकर हृदयसे लगाया। भाव यह कि तुम मेरे हृदयमें धारण करने योग्य हो, यथा—*'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥'* फिर जब चैतन्यतायुक्त देखा, तब हाथ पकड़कर अत्यन्त निकट बैठाया। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—१ प्रभु बार-बार कपिको उठाना चाहते थे, सो उठाकर हृदयसे लगा लिया—यह रामजीकी प्रीति कही। और हनुमान्‌जीको उठाना न अच्छा लगा, इसीसे वे अपनेसे न उठे—यह कपिकी प्रीति कही।

टिप्पणी—२ (क) श्रीरामचन्द्रजीने तीन बार कपिको हृदयसे लगाया—प्रथम जब चरणोंपर पड़े तब ***'प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।'*** दूसरे, जब जाम्बवन्तजीसे इनका चरित सुना तब—***'पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।'*** तीसरे, जब हनुमान्‌जी पुनः चरणोंपर प्रेमाकुल होकर पड़े तब ***'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा'*** (ख) हनुमान्‌जी उठना न चाहते थे। इससे पाया गया कि जब बहुत देरतक पड़े रहे तब प्रभुने 'बरबस' उठाकर हृदयसे लगाया; यथा—***'बरबस लिये उठाइ उर लाये कृपानिधान।'***, ***'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए।'*** (भरतजीके प्रसङ्गमें)। **बरबस**=बल करके।

टिप्पणी ३—***'कर गहि परम निकट बैठावा।'*** हाथ पकड़ना और निकट बिठाना दोनों अत्यन्त प्रेम (एवं आदर) सूचित करते हैं। यथा—***'सुनि सनेह बस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥'*** (अ० ७७); ***'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे'***, ***'भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरम मय बचन उचारे॥'*** (२। १८७। १), ***'स्वागत पूँछि निकट बैठारे॥ लछिमन सादर चरन पखारे॥'*** (आ० ४१), इत्यादि।

मा० त० सु०—१ हाथ पकड़नेका भाव कि जिस मायासे भयभीत होकर तू इस दशाको प्राप्त हुआ है, वह मेरे हाथकी छायामात्रसे निवृत्त होती है। यथा—***'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया'***, उसी हाथको मैंने तेरे अधीन कर दिया। २—निकट बिठानेका भाव कि तू मेरा पार्श्ववर्ती होने योग्य है, मेरे समग्र ऐश्वर्यका अधिपति है—यह भाव ***'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'*** के आशयके अनुसार है।

प० प० प्र०—हाथ पकड़कर बैठाना, निकट बैठाना, हाथ पकड़कर निकट बैठाना और हाथ पकड़कर परम निकट बैठाना, ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रीति तथा आदरके निदर्शक हैं। श्रीहनुमान्‌जीके समान यह आदर सम्पूर्ण मानसमें किसीको भी नहीं मिला।

कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥ ५॥

प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना*॥ ६॥

अर्थ—हे कपि! कहो तो तुमने रावणसे रक्षित लङ्का और उसका अत्यन्त बाँका किला किस प्रकार जलाया?॥ ५॥ श्रीहनुमान्‌जीने प्रभुको प्रसन्न जाना (तब) वे अभिमानरहित वचन बोले॥ ६॥

प० प० प्र०—'कपि' का भाव कि इन्द्रादि देवताओंको भी जो काम अगम्य है वह तुमने कपि होकर कैसे कर डाला? इसका उत्तर हनुमान्‌जीने सीताजीको दोहा १६ में और प्रभुको आगे दोहा ३३ में दिया है। ☞ इस प्रश्नको करके भगवान् दिखाते हैं कि देखो सच्चे सेवक कितने निरहंकारी और विनीत होते हैं।

टिप्पणी—१ (क) ***'केहि बिधि'*** अर्थात् लङ्कादहनकी कोई बिधि नहीं देख पड़ती कि कैसे कोई उसे जला सकता है। क्योंकि उसका रक्षक दिग्विजयी रावण है। पुनः उसका किला ***'अति बंका'*** है। (ख) ***'अति बंका'*** अर्थात् किले तो सभी बंक होते हैं, पर यह सबसे अत्यन्त बाँका है, ऐसा दूसरा नहीं। [नोट—१ ***'दुर्ग अति बंका'*** इति। वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे जो बताया है कि—लङ्का ऐसे पहाड़पर है जो सीधा खड़ा हुआ है (अर्थात् उसपर चढ़नेका रास्ता नहीं है), वह देवताओंके दुर्गके समान नितान्त दुर्गम है। उसमें नदी दुर्ग, गिरिदुर्ग, वनदुर्ग और कृत्रिम दुर्ग हैं। उसके चारों ओर खाईं है और वह शतघ्नी तथा विविध प्रकारके यन्त्रोंसे सुशोभित है। यह दुर्धर्ष और दुर्जेय बनी हुई है। यथा—***'लङ्का पुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा।'*** (६। ३। २०), **'नादेयं पार्वतं वन्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम्।'** इत्यादि।—यही सब ***'दुर्ग अति बंका'*** से अभिप्रेत है। २-ऐसा ही प्रश्न हनुमन्नाटकमें श्रीहनुमान्‌जीसे हुआ है और उत्तर भी वैसा ही है जैसा यहाँ। यथा—**'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लङ्का**

* 'कहु……' तामरस, 'केहि बिधि……'से 'मनुसाई' तक पायकुलक।

नाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने॥' (६। ४२) अर्थात् हे वीर! दस मुखवाले रावणके रहते हुए भी तुमने देवताओंसे दुर्धर्ष ऐसी लङ्कापुरीको कैसे जला डाला?—अर्धालीके *'दुर्ग अति बंका'* को ही यहाँ *'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा'* कहा है। अर्थात् उसे देवता भी नहीं तोड़ सकते और न जीत सकते हैं। पूरी अर्धालीके भाव इस श्लोकमें हैं।] —(ग) प्रभुने समुद्रका लाँघना, अशोकवनका उजाड़ना इत्यादि न पूछा, केवल लङ्कादहनके विषयमें प्रश्न किया। कारण यह कि यह कार्य सबसे कठिन है, यथा—*'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका॥' 'आवा प्रथम नगर जेहि जारा। सुनत बचन कह बालिकुमारा॥'* (६। २३), *'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा।'* (६। ३५), *'जारत नगरु कस न धरि खाहू॥'* (६। ९) इत्यादि। लङ्कादहनसे ही राक्षस शङ्कित हुए हैं, दूसरे किसी कामसे नहीं।

नोट—१ *'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।'* इति। पूर्व प्रभुने कहा था कि *'सनमुख होइ न सकत मन मोरा। सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं॥'* जिसका तात्पर्य यह होता है कि तुम धनी हो, मैं ऋणिया हूँ, तुम महाजन हो, मैं तुम्हारा कर्जदार हूँ, इस प्रकार प्रभु हनुमान्‌जीको अपनी 'साहिबी' दे रहे थे। इसीपर हनुमान्‌जीने त्राहि-त्राहि करते हुए चरणोंपर गिरकर सूचित किया कि मैं तो इन चरणोंका दास हूँ, दासत्व छोड़कर मुझे साहिबी न चाहिये। प्रभुने इनके सिरपर हस्तकमल रखकर दासत्व देना स्वीकार किया। इससे हनुमान्‌जीने जाना कि प्रभु प्रसन्न हैं, नहीं तो प्रथम लङ्कासे आनेपर क्या वे अप्रसन्न थे? (शिला)

टिप्पणी—२ *'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना····'।* का तात्पर्य यह है कि जब प्रभु प्रसन्न होते हैं, तब जीव अभिमानरहित होता है। *'प्रसन्न जाना'* का भाव कि प्रसन्नतामें संदेह था, क्योंकि नगरमें आग लगाना आततायीका काम है, इससे कहीं प्रभु अप्रसन्न न हों? यथा—*'सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ। फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहि भय रहा लुकाइ॥'* (६। २३) पर इसी बातको प्रभु बड़े आदरसे पूछते हैं, अतः निश्चय हुआ कि प्रसन्न हैं। (सिरपर हस्तकमल रखा, उठाया, हृदयसे लगाया और हाथ पकड़कर बगलमें बिठाया—यह उत्तरोत्तर अधिक कृपा और प्रसन्नताका द्योतक है ही। अतः *'प्रसन्न जाना'* कहा)। पुनः उठाकर हृदयसे लगाया, परम निकट बिठाकर प्रेमसे प्रश्न किया, इससे प्रसन्नता जानी। पुनः मस्तकपर हाथ रखना पूर्ण कृपाका चिह्न है। हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो गये, इसीसे प्रभुने अत्यन्त कृपा की; यथा—*'उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम॥'*

टिप्पणी ३ (क)—अभिमानरहित वचन बोले, इसीसे 'बोला' एकवचन पद दिया, नहीं तो बहुवचन 'बोले' पद देते। (ख) *'बिगत अभिमान'* वचन बोले क्योंकि भगवान्‌को अभिमान अच्छा नहीं लगता यथा—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥'* (७। ७४)

नोट—२ प्रभु ऋणी बने तब भी अभिमान न हुआ, यह प्रभुकी ओरसे रक्षा हुई। जो बात कोई न कर सके उसके करनेपर अभिमान हो जाना स्वाभाविक है, अतः *'बिगत अभिमान'* कहा।

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखा पर जाई॥ ७॥
नाघि* सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचरगन बधि बिपिन उजारा॥ ८॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू† मोरि प्रभुताई‡॥ ९॥

अर्थ—वानरकी यही बड़ी बहादुरी (पुरुषार्थ) है कि वह एक डाल परसे दूसरी डालपर जाता है॥ ७॥ (जो) सिंधुको लाँघकर सोनेका नगर जलाया और निसाचरोंके समूहको मारकर वनको उजाड़ा॥ ८॥ यह सब तो हे रघुराई! आपका प्रताप है (आपके प्रतापने किया है)। हे नाथ! इसमें मेरी प्रभुता कुछ भी नहीं है॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) शाखासे शाखापर जाना कहते हैं, इसीसे यहाँ *'साखामृग'* साभिप्राय नाम दिया। (ख) *'बड़ि मनुसाई'* अर्थात् सारा पुरुषार्थ बस इतनेमें ही हो जाता है। आगे समुद्रलङ्घन आदिको रामप्रतापसे कहेंगे, इसीसे अपना पुरुषार्थ इतनेमें ही समाप्त कर दिया। यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलङ्कार' है।

* नाधि-ना० प्र०। † कछुक—कोदवराम। ‡ 'साखाते····'। चम्पकमाला। (८), (९) पायकुलक। (ब्र० चं)

टिप्पणी—२ *'नाधि सिंधु·····'* अर्थात् शाखापर कूद-फाँद करनेवाला समुद्र नहीं लाँघ सकता, सोनेके घर आग लगानेसे जल नहीं सकते, एक निशाचर वानरसमूहका नाश कर डालता है और एक वानर एक निशाचरको भी नहीं मार सकता फिर निशाचरगणको भला क्या मारेगा? *'बिपिन उजारा'* अर्थात् रावणके बागकी ओर देवता तो दृष्टि डाल ही नहीं सकते, तब वानर किस गिनतीमें हैं?

नोट—१ 'हनुमन्नाटक'के— **'शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः। यत्पुनर्लङ्घितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव॥', 'निःश्वासेनैव सीताया राजन् कोपानलेन ते। दग्धपूर्वा तु सा लङ्का निमित्तमभवत्कपिः॥'** (अंक ६। ४४, ४३) से प्रतापका भाव स्पष्ट हो जाता है—अर्थात् सीताजीकी निःश्वास और आपकी कोपाग्निने तो लङ्काको पहले ही जला डाला, कपि तो एक निमित्तमात्र हुआ। ऐसा ही कवितावलीमें कहा है—***राम, कोह, पावक, समीर सिय-स्वास, कीस ईसबामता, बिलोकु बानरको ब्याज है।'*** (५। २२) २—मानसचन्द्रिकाकार ***'सो सब तव प्रताप'*** का भाव यों लिखते हैं—***'प्रभु मुदरी उहि पार लै चूड़ामनि एहि पार। सीय बिरह लंका जरी प्रभु परताप तुम्हार॥'*** अर्थात् आपकी मुद्रिकासे समुद्र पार हुआ, महारानीजीका चूड़ामणि इस पार ले आया। सीताजीके विरह और आपके प्रतापसे लङ्का जली। पुनः ***'प्रभु प्रताप'*** यह कि यहाँसे आपका स्मरण करके चला, उसीसे स्वयंप्रभा और सम्पातीकी सहायता मिली, समुद्र लाँघनेके समय फिर आपका स्मरण किया तो उससे बीचके विघ्न शान्त हुए, लङ्कामें प्रवेश करनेमें स्मरण किया तो विभीषणजी सहायक मिले जिससे मैं सीताजीतक पहुँचा, बागमें फल खाने पैठा तब आपको हृदयमें धरकर ही, उससे निशाचरोंको मारा। गर्जन भी करता था, तब आपके प्रतापका ही गर्जन करता था; उसीसे श्रीसीताजीके आशीर्वादसे लङ्का जली और मेरा कुछ न बिगड़ा।

टिप्पणी—३ हनुमान्‌जीने समुद्र पारकर पहले वाटिका उजाड़ी, फिर निशाचर-वध किया और अन्तमें लंकादहन किया। पर उन्होंने यहाँ अपने कार्यक्रमानुसार नहीं कहा। प्रथम लंकादहन कहकर तब वन-विध्वंस आदि कह रहे हैं। क्रमसे कहनेमें भी अभिमान सूचित होता, क्रमभङ्गसे निरभिमानता दिखायी। (वास्तवमें लंकादहन प्रथम करनेका कारण श्रीरघुनाथजीका प्रश्न ही है। वे 'लंकादहन' का ही प्रश्न करते हैं, अतएव प्रथम उसीका उत्तर देना उचित ही है।) अथवा, उनको कुछ याद ही न रहा, प्रभुके पूछनेपर उलटा-पुलटा जैसा कुछ याद आता गया सुना दिया।

टिप्पणी—४ (क) ***'सो सब तव प्रताप रघुराई·····॥'*** तात्पर्य यह कि यह सब पुरुषार्थ हमसे कब हो सकता है? (ख) ***'सो सब·····।'*** रामजीने तो केवल लंकादहन पूछा था, यदि केवल उसीको कहते तो समझा जाता कि शेष सब कार्य अपने पुरुषार्थसे किया और लंकादहन रामप्रतापसे। इसीसे सबको गिनाकर तब 'सब' का प्रभुप्रतापसे होना कहा। (ग) ***'न कछु मोरि प्रभुताई'।***—अर्थात् मेरा पुरुषार्थ किसी कार्यमें भी किंचित् नहीं है; सबमें आपके प्रतापने ही काम किया।

वन्दनपाठकजी—हनुमन्नाटकका श्लोक इस प्रसङ्गपर देखिये—**'का शृङ्गारकथा कुतूहलकथा गीतादिविद्याकथा माद्यत्कुम्भिकथा तुरंगमकथा कोदण्डदीक्षाकथा। एकैवास्तिमिथःपलायनकथा त्वद्भीतरक्षःपतेर्देव श्रीरघुनाथ तस्य नगरे स्वप्नेऽपि नान्या कथा।'** अर्थात् हे देव रघुनाथजी! आपके शत्रुसे रक्षित नगरमें आपके प्रतापके भयसे क्या कहीं शृङ्गारकी कथा, कुतूहलकथा, गीता-वाद्यादिकी चर्चा, विद्याकी चर्चा या मस्त हाथी और घोड़ोंकी कथा या धनुर्विद्याशिक्षा आदिकी चर्चा होती है? अर्थात् इनका तो मारे डरके, कहीं नाम नहीं है। हाँ! वहाँ तो केवल एक कथा नगरमें हो रही है—वह परस्पर लंकासे भाग जानेकी कथा है और दूसरी चर्चा वहाँ नहीं है।—(६। ४१)

दो०—ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभाव* बड़वानलहिं जारि सकै खलु तूल†॥ ३३॥

* प्रभाव—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, १७०४। प्रताप—कोदवराम, ब्र० चं।

† कच्छ दोहा है—(ब्र० चं०)। इसमें ८ गुरु, ३२ लघु होते हैं।

अर्थ—हे प्रभो! जिसपर आप प्रसन्न हों, उसे कुछ भी कठिन नहीं। आपके प्रभावसे रूई बड़वानल (समुद्रमें रहनेवाली अग्नि) को भी निश्चय जला सकती है। भाव कि रूई अग्निको जलावे और उसपर भी बड़वानलको, यह महान् असम्भव है; पर यह भी आपके प्रतापसे सम्भव हो जाता है, तब लंका जलाना कौन बड़ी बात है?॥ ३३॥

टिप्पणी—१ प्रभुने लंकादहनको अगम्य कहा। उसका इन्होंने ऐसा सुन्दर उत्तर दिया कि उसमें कुछ भी अगमता न रही, रामप्रताप ही मुख्य ठहरा। श्रीरामजीकी ऐसी अनुकूलता है कि इनको जरा भी अभिमान न आया।

टिप्पणी—२—*'तव प्रभाव''''''जारि सकै'।* इस उत्तरकी खूबी देखिये। वे यह नहीं कहते कि रूईने जलाया या जलाती है, वरंच कहते हैं कि आपका प्रताप रूईद्वारा बड़वानलको भी जला सकता है। हनुमान्‌जीने उपमामें भी अपना पुरुषार्थ नहीं आने दिया; क्योंकि यहाँ रूईके स्थानपर हनुमान्‌जी अपनेको दिखा रहे हैं। रूई जला सके, यह विश्वास नहीं होता; इसीसे 'खलु' शब्द दिया अर्थात् निश्चय है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ 'दूसरी असंगति' अलङ्कार है।

नोट—१ *'बड़वानलहिं'* इस पदसे तेजस्वियोंकी यहाँतक अवधि जनायी। भाव यह कि समुद्र-सरीखे अगाध जलनिधिके जलको भी बड़वानल जला देनेवाला है, उसको भी रूई निश्चय ही जला सकती है, तब लंकाका जलाना क्या? तात्पर्य कि जीवका सब कार्य भगवत्कृपासाध्य होनेहीसे कल्याण है और केवल उद्योगसाध्य होनेसे नहीं। यथा—*'हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।'* (मा० त० सु०)

वि० त्रि०—*'ता कहँ प्रभु''''''तूल'* इति। प्रभुकी अनुग्रह-शक्ति ही सब शक्तियोंसे बड़ी है। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति तथा माधुर्याधिष्ठात्री आदि महाशक्तियाँ उसीके वशीभूत होकर काम करती हैं। भावार्थ यह कि सरकारके अनुकूल होनेसे सरकारकी अनुग्रह-शक्ति काम करने लगी, उसीने महा असम्भवको सम्भव कर दिया, समुद्रोल्लङ्घन, लंकादाह, निसिचरोंका वध, वन-विध्वंसादिक कार्य उसी शक्तिके बलसे हुआ। नहीं तो मेरेमें क्या रखा है। '**अष्टाङ्गुलं शरीरं मे पुच्छं मे द्वादशाङ्गुलम्। बाहू मे पश्य भो राजन् कथं वारिनिधिं तरे॥**' (हनुमन्नाटक)। मेरा शरीर आठ अङ्गुलका, पूँछ बारह अङ्गुलकी, बाहु भी देख लीजिये, मैं समुद्र पार कैसे जा सकता हूँ?

प० प० प्र०—भाव कि आपकी कृपासे क्षुद्रातिक्षुद्र जन्तु भी परम समर्थ हो जाता है। सब काम किया आपके प्रतापने, पर मुझको निमित्त बनाकर मुझे सेवाका लाभ दिया यह मुझपर असीम अहैतुकी कृपा की।

लमगोड़ाजी—नवीन भौतिक बलपर निर्धारित जगत् ध्यान दे। रामराज्यका मूल-मन्त्र उसकी ध्वजापर अंकित है। वह है—'सत्य शील'। लंकाके Militarism सेनानिर्धारित राज्यके *'दुर्ग अति बंका'* की दुर्गति आपने देखी और हनुमान्‌जीका 'रामप्रताप' पर विश्वास भी देखा।—यह केवल कथनीमात्र नहीं है। Hitlerism और Mussolism का नाश भी आपने उन हाथोंसे देख लिया जिनके नेताओंको पहले 'आँसू' और 'हार' ही दिखाते थे। भगवान् कहाँसे और कैसे सत्यकी विजय कराते हैं यह मनुष्यको दिखता नहीं, इसीसे धोखा खाता है। सन्तोंका अनुभव था कि संसारपर बड़ा संकट है, वह श्रीहरिनाम-यश-कीर्त्तनसे ही पार हो सकता है। अत: भारतवर्षमें श्रीअयोध्याजी आदिमें अखण्ड कीर्त्तन जारी हो गया। *'जय सिय राम जय जय हनुमान'* का प्रभाव यह हुआ कि संकट बहुत टल गया। यह वही समय था जब ग्रीनिच (Greenich) में एक ऐसा भूकम्प यन्त्रद्वारा जाना गया जो तीन घण्टे रहा। यह भूकम्प पॉसफिक महासमुद्रमें ऐसे जगह था जहाँ कोई टापूतक न था, नहीं तो उसकी क्या दुर्गति होती कौन कह सकता है? हाँ, बिहारकी जो गति १९३४ के तीन मिनटवाले भूकम्पसे हुई थी, उससे किंचित् अनुमान- मात्र भले ही कर लें। पॉसफिकका वह भूकम्प सात हजार मीलपर यन्त्रद्वारा अनुमानमें आया और (Record) हुआ। फिर पाँच स्थानोंपर छोटे-बड़े भूकम्प ही होकर रह गये। यह वही समय था जब उड़ीसा और

बंगालमें (Cyclone) आँधी-पानीका तूफान आया था पर बहुत आगे नहीं बढ़ा। भृगुसंहिताके अनुसार भारतवर्षको उत्तर-पूरब और दक्षिण-पश्चिमसे बड़ा भय था और भयका निवारण सन्तोंद्वारा ही लिखा था। सन्तोंने कीर्त्तन आदि उपाय कराये जिसके प्रभावसे उत्तर-पूरबवाला आक्रमण नाममात्रको हुआ और दक्षिण-पश्चिमवाला भय मेडागास्करतक ही आकर रह गया। वर्तमान संसार-युद्ध न० २ अभी स्थगित ही है, कारण कि अभी किसी भी सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर नहीं हुए। भृगुसंहिताके अनुसार अभी दस वर्षतक संघर्ष चलता रहेगा और तीसरे युद्धकी भी सम्भावना है। हाँ, उसका निवारण *'ईश-भजन'* नामयश-कीर्त्तन इत्यादि ही है। गाँधीजीकी विजय भी सत्यकी विजय (वह भी निरायुध) एक चमत्कार है; पर 'शील' अभी बहुत कम है, इसीसे हथियारोंकी खड़क बन्द नहीं है, कायरतासे बेगुनाह लोग मारे जा रहे हैं। रामराज्यके 'भगवान्‌पर विश्वास'का मूल-मन्त्र ही इस दोहेमें है और सारे संसारके लिये विचार करने योग्य है।

नाथ भगति अति सुखदायनी । देहु कृपा करि अनपायनी*॥ १॥

शब्दार्थ—*'अनपायनी'* (सं० अनपायिन्, अनपायिनी)=निश्चल, स्थिर, नाश न होनेवाली। 'अनपायिनी' अनपायिन्‌का स्त्रीलिङ्ग है।

अर्थ—हे नाथ! मुझे अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली निश्चय भक्ति कृपा करके दीजिये॥१॥

प० प० प्र०—*'अति सुख'*······ इति। जो सुख प्रयत्न-साध्य है और लोक-लोकान्तरोंमें ऐश्वर्य आदि भोगोंके रूपमें मिलता है वह 'सुख' है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। 'अति सुख' वह है जो बुद्धिग्राह्य और इन्द्रियातीत है। यथा—'**सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।**' (गीता ६। २१) (नोट—यह तभी होता है जब चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है, समस्त मनोवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं, केवल एक आत्मविषयक बुद्धि ही रह जाती है जिससे योगी मनसे आत्माका साक्षात्कार करता हुआ अन्यकी प्रतीक्षा न करके आत्मामें ही संतुष्ट हो जाता है। इसकी प्राप्तिको परम लाभ कहा गया है। यथा—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः॥**' (गीता ६। २२)

टिप्पणी—१ *'नाथ भगति अति'*···· इति। (क) भक्ति माँगते हैं, अतः 'नाथ' सम्बोधन दिया। यथा—*'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥'* (५। ४९; विभीषणजी), *'नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु। जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥'* (७। ४९; वसिष्ठजी), इत्यादि। *'अति सुखदायिनी'* का भाव कि ज्ञानादि सब गुण सुखदायी हैं पर भक्ति 'अत्यन्त सुखदायिनी' है। यथा—*'सब सुख खानि भगति तैं माँगी।'* (७। ८५) यहाँ चरणकी भक्ति माँगते हैं, यह बात आगे स्पष्ट की है।—*'रघुपति चरन भगति सोइ पावा।'* (ख) यहाँ भक्ति माँगनेका कौन मौका है? उत्तर—(१) हनुमान्‌जीपर प्रभु इस समय बहुत प्रसन्न हैं। प्रभुके अनुकूल होनेपर कोई बात अगम्य नहीं और भक्तिसे प्रभु सदैव अनुकूल रहते हैं। यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया।'* अतएव इस समय भक्ति माँगी कि मिल भी जायगी और इसके मिलनेसे आगे भी प्रभु अनुकूल रहेंगे। अथवा (२) प्रभुने कहा है कि *'प्रतिउपकार करौं का तोरा।'* यह भक्ति माँग लेनेका अच्छा मौका है। अतएव उसीके उत्तरमें हनुमान्‌जी कहते हैं कि 'हे नाथ! मुझपर कृपा करके अपनी भक्ति दीजिये। प्रत्युपकार तो बराबरवालेसे किया जाता है, और मैं तो आपका दास हूँ। यह न कहिये कि *'प्रत्युपकार करौं का'*······' इत्यादि। जो आपने कहा है। आपके पास तो सभी पदार्थ हैं। जो साधनोंद्वारा भी दुष्प्राप्य हैं और जो केवल आपकी कृपासे ही मिल सकते हैं। अतएव मुझपर कृपा हो।'

टिप्पणी—२ *'देहु कृपा करि अनपायनी'* इति। (क) कृपा करके देनेका भाव कि भक्ति सुकृतसे भी मिलती है, यथा—*'जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई'* (३। ६) मुझमें जप, योग

* ब्र० चं०—आदि चौपाईके २३२ और २२४ वें भेद हैं। कोदवरामजीकी पुस्तकमें 'तव अति सुखदायिनी' और 'सो अनपायिनी' पाठ है।

आदि कुछ भी नहीं है; केवल आपकी कृपाका अवलम्ब है। आप कृपा करके मुझे दें, कृपासे जो भक्ति मिलती है उसका नाश नहीं होता और जो धर्मसे मिलती है उसका नाश भी है; क्योंकि पुण्य जब क्षीण हो जायँगे तब वह भी न रह जायगी। पुण्योंका नाश हो जाता है पर कृपाका नाश नहीं है, यथा—*'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'।* अतएव कृपासे मिली हुई भक्तिका अन्त नहीं और इसीसे सब लोग भक्तिकी प्राप्तिमें कृपाहीको प्रधान रखते हैं। यथा—(१) *'बाल बिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु।'*—(१। ३, गोस्वामीजी), (२) *'अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥'*—(२। १०७, भरद्वाजजी) (३) *'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती॥'*—(४। ७; सुग्रीवजी), (४) *'अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ। जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ॥'*—(४। १०; वाली), (५) *'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिवमन भावनी॥'*—(५। ४९; विभीषणजी) (६) *'करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर माँगहीं। मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥'*—(७। १३; वेद), (७) *'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥'*—(७। ३४; सनकादिक) (८) *'नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु। जन्म जन्म प्रभुपद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥'*—(७। ४९; वसिष्ठजी) (९) *'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम। सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥'*—(७। ८४; भुशुण्डिजी)

प० प० प्र०—सारांश यह है कि जब भगवान् कृपा करके अनपायिनी भक्ति देते हैं तभी *'माया संभव सकल भ्रम'* नहीं व्यापते। देखिये लोमशजीने भुशुण्डिजीको आशीर्वाद दिया था कि *'रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा……।'* फिर भी उनको मोह हो गया था। जब भगवान् प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—*'माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि'* तब ऐसा होता है।

सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तव कहेउ भवानी॥ २॥
उमा राम सुभाउ* जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना†॥ ३॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं कि) हे भवानी! कपिकी परम सरल वाणी सुनकर तब प्रभुने एवमस्तु (=ऐसा ही हो) कहा॥ २॥ हे उमा! जिसने श्रीरामजीका स्वभाव जान लिया उसे भजन छोड़ दूसरी बात अच्छी ही नहीं लगती है॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'एवमस्तु तव कहेउ'* इति। *'तब'* का भाव कि प्रभुने इनको तीन बार हृदयसे लगाया, सिरपर हाथ फेरा, कृपादृष्टिसे देखा और ऋणी बने; पर बिना माँगे अपनेसे भक्ति देनेको न कहा, भुशुण्डीजीके प्रसङ्गमें भी यह बात देखनेमें आती है, उन्हें भी बिना माँगे अपनी ओरसे प्रभुने भक्ति नहीं दी। देखिये ७। ८४ (४); यथा—*'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥'* भक्ति ऐसी दुर्लभ वस्तु है। जब परम सरल वाणी सुनकर हृदयको शुद्ध देखा तब 'एवमस्तु' कहा। उपक्रममें *'बोला बचन बिगत अभिमाना।'* और उपसंहारमें *'परम सरल बानी'* कहकर जनाया कि 'अभिमानरहित' वाणी 'परम सरल' वाणी कहलाती है।

टिप्पणी २— *'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।'* (क) हनुमान्‌जीने भक्ति माँगी, उसीपर महादेवजीके ये वचन हैं कि जो स्वभाव जानता है, वह भजन ही चाहता है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि हनुमान्‌जी रामजीका स्वभाव जानते हैं। प्रमाण यथा—*'तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ'* (७। ३६) इसीसे उन्होंने भक्ति माँगी। इससे यह भी जाना गया कि भक्ति और भजन पर्याय हैं। (ख) 'स्वभाव' अर्थात् रामजी ऐसे उदार, ऐसे पतितपावन, ऐसे कृतज्ञ इत्यादि हैं। यह जिसने जाना उसे भजन ही 'भाता है'। भुशुण्डिजी स्वभावके जानकार हैं, यथा—*'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥'* (५। ४८) इसीसे उन्हें भी भजन ही 'भाया'। यथा—*'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥' 'भजनहीन सुख कौने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा॥'*

* सुभाव—(ना० प्र०)। † (२), (३), (४), (५), (६) पायकुलक है।

नोट—१ श्रीरामजीका स्वभाव जाननेवाले श्रीशिवजी, लक्ष्मणजी और भरतजी भी हैं, यथा—*'राम रावरो सुभाउ गुन शील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत'*—(विनय० २५१)। शिवजी जानते हैं, इसीसे उन्होंने भक्ति माँगी, यथा—*'बारबार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥'* स्वभाव जाननेसे ही श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि *'मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥'* (२। ७२) और *'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरनरज सेवा॥'* (३। १४) भरतजीका नेम भजन अवधि भरके कठिन तपस्यासे ही समझ लें। उनका तो मत ही है कि—*'साधन सिद्धि रामपग नेहू।'* पुनः रामकलेवामें स्वभावके विषयमें प्रभुके वचनामृत ये हैं—

'गिरिजा संभु भुशुण्डि खगेसू शबरी औ कपिराऊ। जाम्बवन्त हनुमंत विभीषण जानहिं मोर सुभाऊ॥ साँची प्रीति करै जो मोसे होय जो जान अजानौ। प्राण समान सदा तेहि राखौं अवगुन एक न मानौं। मो सन प्रीति लगाइ करै जो और देव की आसा। कोटिन बिनय करै सो प्राणी मैं न जाउँ तेहि पासा॥ अपने और वाके शरीरमें नेकहु भेद न राखौं। कबहूँ छोह न छाड़ौं ताको चूक करै जो लाखौं॥ जो निज मन समेटि सबन से बाँधहि मम पद प्रीती। ताके साथ सदा मैं डोलूँ असि मोरी नित रीती॥ प्रेमपरायन अति चित चायन मित्रभाव हिय लेखे। ऐसे प्रीतिवंत प्राणी को कल न परै बिन देखे॥' (१—६)

नोट—२ भगवान् श्रीरामजीने अपना स्वभाव स्वयं आगे दोहा ४८ में विभीषणजीसे कहा है। यथा—*'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।'*......*जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥ जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धनु जैसें॥ तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥ सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम। ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विजपद प्रेम॥'* (४८) श्रीभरतजीने भी प्रभुका स्वभाव कहा है।-*'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥'* (२। २६०), एवं *'राउरि रीति सुबानि बड़ाई।'* से *'यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर॥'* (२। २९९) तक। इसी तरह भुशुण्डिजी और शिवजीने भी स्वभाव कहा है। यथा—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥'*......*'सेवक पर ममता अति भूरी'*........*॥'* (७। ७४)—इन गुणोंको जानकर ऐसा कौन है जो भजन न करेगा?—*'तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥'* (७। ७४)

नोट—३ *'भाव न आना'* इति। भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि बड़े-बड़े निवृत्तिपरायण, निरपेक्ष, श्रीशुक-सनकादि-सरीखे आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनीश्वर भी उनका भजन करते रहते हैं। यथा—'**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥' 'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥**' (भा० १। ७। १०-११) शौनकजीके प्रश्न करनेपर सूतजीने यह कहा है। पुनः यथा—*'सुक सनकादि मुकुत बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥'* (विनय० ८६। २), *'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान॥'* (७। ४२)—अतः *'भजन तजि भाव न आना।'* कहा।

टिप्पणी—३ *'भाव न आना'* इति। ज्ञानादि अन्य सब सद्गुण 'आना' में आ गये हैं। अर्थात् जो चौपाईमें कहा कि *'भाव न आना'* वे अन्य पदार्थ ये हैं जो स्वयं प्रभुने श्रीमुखसे भुशुण्डिजीको अपनी ओरसे देनेको कहे थे; यथा-*'कागभुसुंडि माँगु बर अतिप्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि॥ ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुरलभ गुन जे जग जाना॥'* पुनः, *'भाव न आना'* का भाव यह है कि रामस्वभावके जाननेवालोंके हृदयमें वासना नहीं रह जाती, इसीसे भक्ति छोड़ उन्हें अन्य कुछ नहीं सुहाता, यथा—*'तुलसी जौं लौं बिषय की मुधा माधुरी मीठि। तौ लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि॥'* (दो० ८३) भक्तिकी माधुरीके आगे सब विषय सीठे पड़ जाते हैं। भक्तिकी मधुरताके विषयमें स्वयं भुशुण्डिजी कहते हैं—*'ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं। कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥ बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइअ सो*

हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥' (७। १२०)—इसमें भक्तिकी माधुरी और दुर्लभता दिखायी गयी है।

यह संबाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा॥ ४॥

अर्थ—यह संवाद जिसके हृदयमें आया (अर्थात् जिसने इसे समझा और धारण किया) उसीने रघुनाथजीके चरणोंकी भक्ति पायी॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'यह संबाद'* अर्थात् *'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।'* (३३। ६) से *'देहु कृपा करि अनपायनी॥'* (३४ क) तक। (ख) *'जासु उर आवा'* अर्थात् जिसके हृदयमें आयेगा, वह रामस्वभाव जानेगा, स्वभाव जाननेसे उसे भक्ति प्राप्त होगी, फिर तो उसे भक्तिको छोड़कर ज्ञानादि कुछ भी न अच्छे लगेंगे। पुनः *'उर आवा'* से यह भी जनाया कि केवल पढ़ने या सुननेवालेको भक्ति नहीं प्राप्त होगी, जिसके हृदयमें संवाद बैठ जायगा वही पावेगा। *'सोइ'* का सम्बन्ध दो जगहसे है—*'जासु उर आवा सोइ पावा'* और *'सोइ रघुपति-चरणभक्ति पावा'* जो हनुमान्‌जीको मिली है। (ग) *'आवा'* और 'पावा' से जनाया कि भक्तिकी प्राप्तिमें किंचित् विलम्ब नहीं, संवाद उरमें आनेकी ही देरी है, वह हृदयमें आया नहीं कि भक्ति मिली। तात्पर्य कि हनुमान्‌जीको बड़े परिश्रमसे मिली, इसीसे 'पावा' पद किया अर्थात् पायी।

मा० हं०—'गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीका चरित्राङ्कन बड़े ध्यानसे किया है। उन्हें हर तरहसे ऐसा प्रतापशाली और बुद्धिशाली व्यक्ति सारी रामायणमें अन्य कोई भी नहीं दीख पड़ा। यही कारण है कि अन्य किसी भी रामायणमेंके हनुमान्‌जी स्वामीजीके हनुमान्‌जीसे हस्तान्दोलन करनेको पहुँच नहीं सकते। राम-हनुमान्-संवादपर स्वामीकी यह छाप है। *'यह संबाद जासु……।'* इस प्रकारकी छाप रामायणके अन्य किसी भी संवादपर न होना, यही हम इन हनुमान्‌जीकी अधिक विशेषता समझते हैं।'

'इस पात्रका पूर्ण परिचय थोड़ेमें ही चाहो तो इस तरह हो सकता है—रामजीकी ओजस्विता और विवेक, रावणका पौरुष और कार्यप्रवीणता, कुम्भकर्णका धैर्य और धड़क, और निजका बुद्धिचातुर्य, अतुलबल और मनोजव इन गुणोंका समीकरण गोसाईंजीके हनुमान्‌जीमें है।

मा० त० सु०—इस प्रसङ्गमें *'सुनु सुत'* आदि पदोंके द्वारा प्रभुका वात्सल्यगुण ही प्रधानरूपसे दिखाया गया है। क्योंकि यहाँ प्रभु अपने ऐश्वर्य, शौर्यादि गुणोंको भक्तवश होनेसे भूल गये हैं, यथा—*'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यहि रीति॥'* (विनय० ९८) अतएव चारों वक्ताओंने इसी प्रसङ्गको भक्ति प्राप्तिके लिये मुख्य माना, शेषको गौण।

टिप्पणी—२ अब संवादका फल कहते हैं। सब संवादोंके फल पृथक्-पृथक् कहे गये हैं, यथा—(१) *'यह उमासंभुबिवाह जे नरनारि सुनहिं जे गावहीं। कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं॥'* (१। १०३), (२) *'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥'* (१। १९२), (३) *'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं॥'* (१। ३६१), (४) *'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद पेमु अवसि होइ भवरसबिरति॥'* (२। ३२६), (५) *'कलिमल समन दमन मन रामसुजस सुखमूल। सादर सुनहिं जे तिन्हपर राम रहहिं अनुकूल॥'* (३। ६), *'रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥'* (३। ४६), (७) *'भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥'* (४। ३०), (८) *'सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान। सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान॥'* (५। ६०), (९) *'समर बिजय रघुबीरके चरित जे सुनहिं सुजान। बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान्॥'* (६। १२०), (१०) *'महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका॥ जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥'* (७। १५), (११) *'यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा॥ भवभंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥'* (७। १३०), (१२) *'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥'* (७। १३०), इत्यादि।-विचार देखनेसे स्पष्ट हो जायगा कि फलश्रुति सर्वत्र विषय वा प्रसङ्गके अनुकूल ही दी जाती है।

सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा॥ ५॥

शब्दार्थ—कंद=मेघ। **'कं जलं ददाति इति कन्दः मेघः'**। सुखकंद अर्थात् सुखरूपी जलकी वर्षा करनेवाले मेघस्वरूप श्रीरामजी।

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर कपिवृंद कह रहे हैं कि ***'कृपाल सुखकंदकी जय हो! जय हो!'*** (अर्थात् हनुमान्‌जीको जब प्रभुने अनपायिनी सुखदायिनी निजभक्ति दी तब सब वानर जयजयकार करने लगे।)॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) अपने जातिकी भलाई देखकर लोग सुखी होते हैं, यथा—***'रिषिनिकाय मुनिबर गति देखी। सुखी भए निज हृदय बिसेषी॥'*** (३। ९) पुनः, हनुमान्‌जी सबको प्रिय हैं, सबके प्राणदाता हैं। अतएव अपने ऊपर उपकार करनेवाले और प्रियको अनपायिनी भक्ति-सी अलभ्य पदार्थकी प्राप्ति देखकर स्वाभाविक ही सबको प्रसन्नता होनी ही चाहिये। पुनः, सबके सामने ही यह संवाद हुआ है, सबने प्रभुका स्वभाव प्रत्यक्ष देखा; इस प्रकार सबके उरमें यह संवाद आया, जिससे सबको भक्तिकी प्राप्ति हुई। अतएव इन कारणोंसे सब प्रसन्न हुए और सबने जयजयकार किया। (ख) ***'प्रभु बचन'*** इति। ***'सुनु कपि तोहि समान उपकारी'*** से ***'देखेउँ करि बिचार मन माहीं'*** तक, ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी 'त्राहि त्राहि' कहकर प्रभुके चरणोंपर पड़े और इन्हीं वचनोंको सुनकर वानर 'जय जय जय' शब्द बोले। इसीसे ***'सुनि प्रभु बचन'*** यह पद दोनों जगह रखा गया, यथा—***'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत'*** और ***'सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा।'***

टिप्पणी—२ ***'जय जय जय कृपाल सुखकंदा'*** इति। भाव कि—(क) प्रभु कृतज्ञ हैं, सबसे उत्कर्ष बरतते हैं। कृपालु हैं, हम सबपर कृपा करते हैं। सुखकंद हैं, ऐसी मधुर वाणी बोलकर हम सबोंको सुख दे रहे हैं; यथा—***'तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे॥'*** अथवा (ख) सुख सुकृतसे मिलता है क्योंकि सुख सुकृतका फल है। हमने कोई सुकृत नहीं किये। हममें कोई सुकृत नहीं हैं। यह सुख आपने अपनी कृपासे दिया। सुख धर्म या सुकृतसे मिलता है, यथा—***'सब सुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी॥'***, ***'तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए। धरमसील पहिं जाहिं सुभाए॥'***, ***'भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥'***, ***'बरनास्त्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥'*** इत्यादि। धर्म करनेसे जो फल होता है वह हमको प्रभुने अपनी कृपासे (बिना कोई धर्म किये) यों ही दे दिया।—यह सोचकर जयजयकार करते हैं। ☞ इससे यह जनाया कि जिसपर भगवान्‌की कृपा हुई वह सब धर्म कर चुका। पुनः (ग) रामस्वभाव समझकर मारे हर्षके रह-रहकर एवं समय-समयपर जय-जय शब्द उच्चारण करते हैं, यथा—***'मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं।'***

नोट—बारंबार जय शब्द उच्चारण करनेमें अत्यन्त उत्साह और आनन्दकी वीप्सा है, यथा—**'जयशब्दो नमश्शब्दस्तत्रासीत्सर्वसंस्कृतः। तदोत्साहो महानासीत्सर्वेषां सुखवर्द्धनः॥'** (शिवपुराण रुद्रसंहिता अ० २०। ४२ हरिजनजी)। तीन बार लिखकर बहुत बार एवं बारंबार जयजयकार जनाया।

लमगोड़ाजी—तुलसीदासजीके नाटकीय सत्य (Dramatic truthfulness) को धन्य है। शब्द लिखे बादको हैं, पर साफ बता दिया है कि वे कहे कब गये थे। रङ्गमञ्चका प्रभाव अपनी कल्पनाशक्तिसे चित्रित कीजिये और मजा लीजिये। अभिनेताओंको भी सुन्दर संकेत है; पर बड़ी सावधानीकी जरूरत है, नहीं तो गड़बड़ मच जाय।

☞ ***'जामवंत कह सुनु रघुराया'*** से यहाँतक ***'बैदेही की कुसल सुनाई'*** यह प्रसङ्ग है।

'सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥'—प्रकरण

तब रघुपति कपिपतिहिं बोलावा। कहा चलै कर करहु बनावा॥ ६॥
अब बिलंब केहि कारन कीजै। तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजै॥ ७॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी। नभ ते भवन चले सुर हरषी*॥ ८॥

* 'अब बिलंब......' द्रुतपा, 'तुरत......' चण्डी, (८) पायकुलक।

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवजीको बुलाया और कहा कि चलनेकी तैयारी करो॥ ६॥ अब देर किस कारण करते हैं? तुरंत वानरोंको आज्ञा दीजिये॥ ७॥ कौतुक देखकर बहुत फूल बरसाकर और हर्षित होकर देवता आकाशमार्गसे अपने-अपने घरको चले॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'तब रघुपति कपिपतिहिं बोलावा'*** इति। (क) ***'तब'*** का भाव कि यहाँतक परमार्थ हो चुका, अब स्वार्थकी बात चली। सज्जन पहले परमार्थ साधन करते हैं, पीछे स्वार्थ, यह ग्रन्थकारका उपदेश है। (ख) सब वानरोंपर सुग्रीवका हुक्म चलता है, अतः ***'कपिपति'*** कहा। सुग्रीवपर रामजीका हुक्म है, अतः ***'रघुपति'*** कहा। ***'बोलावा'*** से जान पड़ता है कि सुग्रीव कहीं दूर हैं; पर वे तो पास ही बैठे हैं तब 'बुलावा' कैसे कहते हैं? उत्तर यह है कि वानर हर्षके कारण 'जय जय जय' शब्द बारंबार उच्चारण कर रहे हैं, शोरके कारण कुछ सुनायी नहीं पड़ता; अतएव बात सुननेके लिये परम निकट बुलाकर तब कहा। (घ)—***'बनावा'***—अर्थात् व्यूहरचना करके सब यूथपति अपना-अपना यूथ लेकर चलें। ☞ ***'तुलसिदास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन।'*** (गी० ५। २१) यह ***'जो चलहु सजि सैन'*** है वही यहाँ ***'करहु बनावा'*** में अभिप्रेत है।

टिप्पणी—२ ***'अब बिलंब केहि कारन कीजै।'*** इति। (क) तात्पर्य कि विलंबका कारण था कि सीताजीका समाचार न मिला था। अब खबर मिल गयी, तब देर न करनी चाहिये। ***'जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई॥'*** हनुमान्‌जीके इन वचनोंकी सत्यता अनुभूत हुई। (ख) ***'तुरत'*** क्योंकि हनुमान्‌जीकी प्रार्थना है कि ***'बेगि चलिय प्रभु आनिए……।'*** पुनः इससे कि उस समय यात्राके लिये बहुत शुभ मुहूर्त था।

नोट—१ अध्यात्मरा० में भी कहा है कि **'सुग्रीव सैनिकान्सर्वान् प्रस्थानायाभिनोदय। इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते॥'** (६। १। २७) अर्थात् सब सैनिकोंको चलनेकी आज्ञा दे दो, इसी समय 'विजय' मुहूर्त है। ३५ (४) देखिये।

वाल्मीकीयमें श्रीरघुनाथजी सुग्रीवजीसे कह रहे हैं कि—सूर्यके मध्य आकाशवर्ती होनेपर अभिजित् मुहूर्तमें यात्रा करनेसे हमारी जय है। आज उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है, कल हस्तनक्षत्रसे इसका योग होगा। यथा—**'अस्मिन्मुहूर्ते विजये प्राप्ते मध्यं दिवाकरे।……उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते। अभिप्रयामस्सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः॥'** (६। ४। ५) अतः सब सेनाके साथ तुरंत चल दें। शुभ शकुन भी हो रहे हैं। हनुमन्नाटकका मत है कि आश्विनकी विजयादशमीको श्रीरामचन्द्रजीने सेनासहित प्रस्थान किया, यथा—**'अथ विजयदशम्यामाश्विने शुक्लपक्षे दशमुखनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः।'** (७। २) पर वाल्मीकीयके मतसे इसका विरोध होता है। पद्म० पु० पातालखण्ड अ० ३६ में मार्गशीर्ष वृकको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजयनामक मुहूर्तमें दोपहरके समय श्रीरघुनाथजीका लङ्काके लिये प्रस्थान होना लिखा है। स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड धर्मारण्य माहात्म्यके अ० ३० में भी प्रायः वही श्लोक हैं जो प० पु० पा० अ० ३६ में हैं। यह मत वाल्मीकीयसे मिलता है!

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि ***'तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे'*** का भाव यह है कि आज इसी समय बंदरोंको आज्ञा दीजिये। कल हस्त नक्षत्र लग जायगा। पुनर्वसुमें जिसका जन्म हुआ हो, उसके लिये हस्त वधतारा है, और आज उत्तराफाल्गुनी है जो श्रीसीताजीका जन्मतारा है। जो कैद है उसके छुड़ानेके लिये उसके जन्मतारामें प्रयाण करनेसे वह अवश्य छूटता है, सो आज उत्तरा है, और इस समय अभिजित् विजयप्रद मुहूर्त है, अतः इसी समय यात्राके लिये शुभ मुहूर्त है। सीताजीके हरणके बाद जब-जब सरकार खोजने चले तो रास्तेमें वसन्तका वर्णन आया है। इससे स्पष्ट है कि सीताहरण शिशिरमें हुआ अर्थात् फाल्गुनमें हुआ, और सीताजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि **'वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषो प्लवङ्गम।'** भाव यह कि यह दसवाँ महीना लङ्कामें आये बीत रहा है। इस हिसाबसे यात्राका समय

अगहन-पूस पड़ता है, और अमान्त नामसे अगहन कृष्ण अष्टमी या सप्तमीको उत्तरा नक्षत्र आता है, अतः अगहन सुदी पूर्णिमाके बाद सातवें या आठवें दिन सरकारकी विजय-यात्रा हुई। वाल्मीकीयमें कहते हैं—**'उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते। अभिप्रयामस्सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः॥'** इससे स्पष्ट है कि सरकारकी विजययात्रा उत्तराफाल्गुनीमें हुई है। विजयादशमीको श्रवणमें विजय-यात्रा होती है, जो उत्तराफाल्गुनीसे बहुत दूर पड़ता है। अतः विजयादशमी कथमपि सरकारके विजययात्राका दिन वाल्मीकिके हिसाबसे नहीं पड़ सकता। अध्यात्मका कथन **'इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते'** से अभिजित् मुहूर्तका संकेत है, जो दोपहरको पड़ता है। विजय मुहूर्तके ग्रहणसे विजयादशमीका ग्रहण नहीं हो सकता है।

नोट—२ ***'बिलंब केहि काज'*** और ***'तुरत आयसु दीजे'*** से पाया जाता है कि सुग्रीवजी विलम्ब कर रहे थे, नहीं तो ऐसा कहनेका क्या अभिप्राय हो सकता है? इस कथनका तात्पर्य है कि जब हनुमान्‌जीने खबर दे दी थी, तभी तैयारी करना था। नहीं तो कम-से-कम उस समय तो अवश्य तैयारी करते जब हनुमान्‌जीके वचन सुन लिये थे कि ***'बेगि चलिये……'*** उचित था कि तुरंत उसी समय प्रभुकी आज्ञा लेकर चलनेकी तैयारी करते। बुलाकर आज्ञा देनेपर चले यही विलंब' है।

टिप्पणी—३ ***'कौतुक देखि सुमन बहु बरषी।'*** (क) वानरीसेना साथ लेना, यही कौतुक है, तथा—***'कौतुक लागि संग कपि सैना'*** (४। ३०)। अतएव कौतुक देखना कहा।—[पुनः, कौतुक—१ रंगबिरंगके अनेक जातिके वानर-भालु संग लेकर रावणको जीतने जाना, उन प्रभुका कि जो ***'प्रभु सक त्रिभुअन मारि जिआई',*** यह कौतुक ही तो है। वानर-भालु निशाचरोंके भक्ष्य हैं, उन्हींसे निशाचरोंको जीतेंगे। पुनः २—वानरोंकी कूद-फाँद, किल-किला, गर्जन-तर्जन आदिका कौतुक। (प्र०)] (ख) बहुत सुमन बरसानेका भाव यह कि जितनी दूरतक वानर थे वहाँतक फूल बरसाये। यह समयकी सेवा है, सो की, यथा—***'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा', 'सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं।'……'सेवहिं सकल रामप्रिय जानी॥'*** (२। ३११), ***'समय समय सुर बरषहिं फूला॥'*** (१। ३१९) अथवा, प्रयाण (प्रस्थान) जानकर पुष्पोंकी वृष्टि की, क्योंकि पुष्पवृष्टि मङ्गल है, यथा—***'बरषहिं सुमन सुमंगलदाता।'*** पुनः, (ग)—पूर्व कह चुके हैं कि इस संवादको कहकर या सुनकर जो हृदयमें धारण करता है वह भक्ति पाता है। देवताओंने सुना और आँखों देखा इससे उन्होंने भक्ति पायी। इसीसे फूल बरसाये। फूल बरसाना भक्ति है।

टिप्पणी—४ (क) यहाँ भी देवताओंकी स्वार्थपरायणता देख लीजिये—जब ***'सीतासुधि'*** सुनायी तब फूल न बरसाये और जब हनुमान्‌जीको भक्ति प्रदान हुई तब भी न बरसाये; क्योंकि उन्होंने सोचा कि इन्हें भक्ति मिली तो इसमें हमारा क्या काम हुआ? हमको क्या लाभ है जो हम हर्ष प्रकट करें? जब चलनेकी तैयारीकी आज्ञा दी, तब वर्षा की; क्योंकि अब विश्वास हुआ कि रावणको मारेंगे, हम सब सुखी होंगे। ये सदाके स्वार्थी हैं—***'आये देव सदा स्वारथी।'*** (ख) ***'नभते भवन चले।'*** इससे जनाया कि अभीतक सब देवता पृथ्वीपर थे, यथा—***'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभुकै सेवा॥'*** (४। १३) प्रस्थानका समय जानकर निज (देव) रूप धारण करके आकाशमें गये; अब वहींसे घरको चल दिये। तात्पर्य कि वर्षा और शरद्‌में भगवान्‌की सेवामें रहे, जब वे लंकाको चले तब वे घरको चल दिये।

श्रीलमगोड़ाजी—***'अब बिलंब……'*** के प्रश्नरूपसे कितनी सरलता और सरसतासे भगवान्‌का उत्साह और कर्त्तव्यपरायणता दिखायी गयी है कि तनिक विलम्ब भी नहीं सहा जाता, देवताओंकी सुमनवृष्टिपर तो फिल्मकला ही निछावर है; कारण कि अवसर बड़ा सुन्दर है। हमें साफ दिखने लगता है कि भौतिकनाटकके द्रष्टा देवगण भी होते हैं और ***'हिम्मते मरदां मददे खुदा'*** (पुरुषार्थ करनेवालेको ईश्वर सहायक होता है) को चरितार्थ करते रहते हैं। और, यहाँ तो उन्हींका काम ही है; अब जाकर उनकी चिन्ता निवारण हुई और वे आशाके साथ घर गये।

दो०—कपिपति बेगि बोलाए आए जूथप जूथ।
नाना बरन अतुल बल बानर भालु बरूथ*॥ ३४॥

शब्दार्थ—**यूथ**=एक ही जाति या वर्गके अनेक जीवोंका समूह, झुंड, दल, सेना। **जूथप**=सेनापति।

अर्थ—(श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा सुनकर) कपिपति सुग्रीवने सेनापतियोंके यूथों (समूहों) को तुरंत बुलाया, वे तुरंत आ गये। वानर और भालुके झुण्ड अनेक रंग एवं जातिके हैं और उनमें असीम बल है॥ ३४॥

टिप्पणी—१ श्रीरामजीने सुग्रीवको आज्ञा दी, सुग्रीवने यूथपतियों और यूथपतियोंने अपनी-अपनी सेनाके बानर-भालु-वरूथोंको। वानरभालु-बरूथ सेना है। *'बेगि'* बुलाया इसीसे वे **'बेगि'** आये। **'बुलाए'** और **'आए'** ये दानों क्रियाएँ एक साथ हुईं; इसीसे दोनोंको साथ रखा। श्रीरामजीकी आज्ञा थी ***'तुरत कपिन्ह कहँ आसु दीजै'***; अत: ***'कपिपति बेगि बोलाए'*** ***'आए'*** बहुवचन है, क्योंकि यूथपतियोंके बहुत-से झुंड हैं। यथा—***'पदुम अठारह जूथप बंदर।'*** २-उत्तरार्धमें यूथपतियोंका वर्ण और बल कहा है। वानर-भालुसे जाति और वरूथसे सेना कही। नाना वर्णोंके वानर-भालुओंका वाल्मीकीयमें विस्तृत वर्णन है।

प्रभु पदपंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा†॥ १॥

अर्थ—सब प्रभुके चरणकमलोंमें सिर नवाते हैं। महाबली वानर और भालु गर्ज रहे हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ सुग्रीवजीके चरणोंमें माथा नवानेसे वे प्रसन्न नहीं होते, किंतु रामजीके चरणोंमें मस्तक नवानेसे वे प्रसन्न होते हैं; इसीसे जहाँ-तहाँ श्रीरामजीके ही चरणोंमें मस्तक नवाना पाया जाता है। यथा—***'एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ। नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ॥'*** (४। २१), ***'……आइ रामपद नावहिं माथा'***; पुन:, यथा—***'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥'*** (४। २३)—[नोट—यह रीति है कि जब किसी समाजमें कोई बड़ा बैठा होता है, तब उसीको प्रणाम किया जाता है, उसके प्रणामसे सबको प्रणाम हो जाता है। ऐसी भी रीति देखनेमें आती है कि प्रधानको प्रथम प्रणाम करके तब औरोंको वहींसे साधारणत: प्रणाम कर लिया जाता है। यहाँ सुग्रीव श्रीरामजीके पास हैं, इससे श्रीरामजीको ही प्रणाम किया है]।

टिप्पणी—२ जब सुग्रीव रामजीके समीप नहीं होते तब उनको प्रणाम करते हैं, यथा—***'आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा॥'*** (५। २८)—[मा० त० सु०—***'नावहिं सीसा'*** का भाव यह कि सिर झुकाकर प्रणाम करने लगे, क्योंकि समुदायमें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेका अवकाश नहीं मिलता। पुन: केवल सिर नवानेसे शीघ्र चलनेकी तैयारी सूचित की।]

टिप्पणी—३ ***'महाबल'*** इति। ऊपर दोहेमें ***'नाना बरन अतुल बल'*** कहकर यहाँ ***'गर्जहिं भालु महाबल कीसा'*** कहा; इससे जनाया कि किसीके महाबल है और किसीके ***'अतुल'*** बल है।

टिप्पणी—४ ***'गर्जहिं'*** से जनाया कि शत्रुपर चढ़ाई समझकर वीररसका आवेश हो गया। अत: गरजने लगे। प्रथम जब सब वानर (श्रीसीताजीका पता लगानेके लिये बुलाये जानेपर) आये थे, तब न गर्जे थे; यथा—***'आइ रामपद नावहिं माथा। निरखि बदन सब होहिं सनाथा॥'*** तब वीररसका आवेश न हुआ था क्योंकि उस समय युद्धका प्रयोजन न था; केवल सीताजीके ***'खोज'*** लगानेका ही प्रयोजन था।

देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजिवनयना॥ २॥
राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा॥ ३॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भए सुंदर सुभ नाना‡॥ ४॥

* यह दोहरा है।

† 'प्रभु……' तामरस, 'गर्जहिं……' पायकुलक (ब्र० चं०)।

‡ (२) (३) पायकुलक, 'हरषि……' द्रुतपा, 'सगुन……' कुसुम विचित्रा।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब वानरी सेना देखी और कमल-नयनोंसे उसपर कृपादृष्टि की॥ २॥ रामकृपाका बल पाकर कपिश्रेष्ठ मानो पक्षवाले श्रेष्ठ पर्वत हो गये [वा, वे 'कपीन्द' और 'पक्षयुक्त' हो गये मानो पक्षयुक्त सुमेरु पर्वत हैं। अर्थात् उनमें उड़नेका सामर्थ्य हो गया। इसीसे आगे लिखते हैं कि *'चले गगन महि इच्छाचारी'*] ॥ ३॥ तब प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रस्थान किया। (अर्थात् चले)। अनेक प्रकारके सुन्दर और मङ्गल शकुन होने लगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) पहले सामान्य दृष्टिसे देखा फिर विशेष दृष्टिसे देखा। तात्पर्य कि जब सब वानर मस्तक नवा चुके तब श्रीरामचन्द्रजीने सेनाको देखा कि इतनी है। फिर उनको बल-पराक्रम देनेके लिये कृपादृष्टि करके पुनः उनकी ओर देखा। जैसा कवि आगे स्वयं लिखते हैं—*'रामकृपा बल पाइ'*।—[*'देखी'* और *'चितइ'* में पुनरुक्ति नहीं है। दो क्रियाएँ दो पृथक्-पृथक् बातोंके लिये दी गयी हैं। पहले देखा कि सेना कितनी है और कैसी है। फिर उनको रावणके मुकाबलेमें निर्बल जानकर उनको निशाचरराज और उसकी सेनासे युद्ध करने योग्य बल प्रदान करनेके लिये कृपादृष्टिसे देखा। प्रभुने देखा कि सब देवता ही वानररूप धारण किये उपस्थित हैं, पर देवरूपमें ये रावणसे पराजित हो चुके हैं, यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी।''''' नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥'* (१। १८२) तब ये भला रावणसे कैसे लड़ेंगे? यह सोचकर *'चितइ कृपा करि'*। कृपादृष्टिसे उनके शरीर और बल युद्ध-योग्य कर दिये। (रा० प्र०) 'चितवना' का प्रयोग मानसमें प्रायः प्रेमसे देखनेके अर्थमें होता है। जैसे, *'रामहि चितइ रहे थकि लोचन।'* (१। २६। ८), *'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुखु नहिं कथनीया॥'* (१। २४२। ६), *'बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लषन तन'* (२। १००), *'पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥'* (३२। ८) इत्यादि। (प० प० प्र०)] (ख) *'राजिवनयन'* कृपाका सूचक है। ३२ (१) *'भरि आए जल राजिवनयना'* देखिये। पुनः यथा''''*'तब निज भुजबल राजिवनयना'* (४। ३०), *'मैं देखउँ खलबल-दलहिं बोले राजिवनयन'* (६। ६६)। (ग) जैसे राजा लोग अपनी सेनाकी संख्या कर पारितोषिक बाँटकर चढ़ाई करते हैं, वैसे ही यहाँ कृपाबल पारितोषिक सबको मिला। (घ) *'पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा'* इति। श्रीरामकृपाका फल तत्क्षण हुआ, वे बलवान् तो थे ही, अब पक्षयुत हो गये मानो असंख्य सुमेरुपर्वत एकत्र हो गये हैं। *'भये'* देहली-दीपक है। कृपासे बल पाकर 'कपिन्द' हुए और 'पक्षयुत' हुए।

नोट—१ *'भये पक्षयुत मनहुँ गिरिंदा'* के और भाव ये हैं—(१) जब पहाड़ोंके पक्ष थे (जैसे मैनाकके), तब वे उड़ते फिरते थे, वैसे ही ये वानर स्वामीका सांनिध्य पाकर अपने ऊपर कृपा देखकर बल और उत्साहके अतिरेकसे उड़ते-फिरते हैं, मानो पहाड़के पंख हो आये हैं। (गौड़जी) (२) *'गिरिंदा'* हो गये। अर्थात् वे युद्धमें शत्रुओंसे दुर्दम हो गये, अचल हो गये, अब शस्त्रादिके आघात वे सहेंगे, हटेंगे नहीं। यथा—*'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भए प्रबल रन रहहिं न रोके॥'* (रा० प्र०) (३) हनुमान्‌जीने अपना पर्वताकार रूप दिखाकर श्रीसीताजीको सान्त्वना दी थी कि ऐसे ही सब वानर हैं, मैं तो सबसे छोटा हूँ। तो अब यदि छोटे-छोटे वानर जाते तो महावीरजीका वचन ठीक न उतरता। अतः वानरोंको पहाड़ोंके समान बना दिया। (रा० शं०) (४) प्रभुके कृपामय चितवनमात्रहीसे समयानुकूल कार्य सिद्ध हो जाता है, यथा—*'राम कृपा करि चितवा जबहीं। भए बिगत श्रम बानर तबहीं॥'*, *'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भए प्रबल रन रहहिं न रोके॥'*

लमगोड़ाजी—ओजगुणकी महाकाव्यकलापूर्ण उत्प्रेक्षा सराहनीय है।

टिप्पणी—२ *'हरषि राम तब कीन्ह पयाना'* इति। (क) प्रस्थानके समय हर्ष होना उत्तम शकुन है। [पुनः, पूर्व *'निसिचरहीन करउँ महि'* (३। ९), यह जो प्रतिज्ञा की थी उसकी पूर्तिका संयोग जानकर, अभीष्टकी सिद्धि समझकर हर्ष हुआ। शुभ शकुन देखकर भी हर्ष है।] (ख) *'तब'* अर्थात् जब सेनाको कृपा करके बल दे दिया और देख लिया कि सेना बलिष्ठ और उत्तेजित हो गयी है तब उनको हर्ष हुआ और उन्होंने प्रस्थान किया। (ग) *'हरषि'* यह भीतर हृदयका शकुन है ओर *'सगुन भये सुंदर सुभ नाना'* यह बाहरके शकुन है। बाहरसे भीतरका शकुन श्रेष्ठ होता है। अतः उसे पहले कहा। (घ)

'*कीन्ह पयाना*' इति। ३४ (७) में देखिये।

नोट—२ ☞ अध्यात्मरामायणमें केवल मुहूर्तका नाम दिया है और हनुमन्नाटकमें आश्विन विजयदशमीको प्रयाण करना कहा गया है। वाल्मीकीयमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र अभिजित नाम विजयके मुहूर्तमें प्रस्थान बताया गया है। पद्मपुराण पातालखण्डमें मार्गशीर्ष कृष्णपक्षकी अष्टमीको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजय नामक मुहूर्तमें दोपहरके समय प्रस्थान है। मानसके मतसे यही तिथि जान पड़ती है; कारण कि चतुर्मासा बीतनेपर वानर भेजे गये थे और एक मासकी अवधि स्वयंप्रभाके आश्रममें ही बीत चुकी थी। अतः मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष ही मानसका मत है।

नोट—३ '*सगुन भये सुंदर सुभ नाना*' इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि, '**निमित्तानि च धन्यानि यानि प्रादुर्भवन्ति च। निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम्॥ उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिदं मम। विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम्॥**' '**महान्ति च निमित्तानि दिवि भूमौ च राघव॥ शुभानि तव पश्यामि सर्वाण्येवार्थसिद्धये। अनुवाति शुभो वायुः सेनां मृदुहितः सुखः॥**' (वाल्मी० ६। ४। ७-८, ४६-४७) श्रीरामजी सुग्रीवजीसे कह रहे हैं कि जो शकुन शुभ कहे जाते हैं वे भी हो रहे हैं, जिससे प्रकट होता है कि हम रावणको मारकर जानकीजीको ले आवेंगे। देखो, मेरी दाहिनी आँखके ऊपरका पलक बराबर फड़ककर कह रहा है कि तुम्हारी विजय समीप है और मनोरथ पूर्ण होनेवाला है। श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि आकाश और पृथिवीपर अनेक प्रकारके शकुन देख पड़ते हैं जो आपके लिये शुभ और स्वार्थसिद्धिके द्योतक हैं। शीतल, मन्द, सुगन्धित अनुकूल पवन चल रहा है, मृग और पक्षी मधुर स्वरसे बोल रहे हैं, सूर्य निर्मल किरणोंसे प्रकाशित हैं, शुक्र पीछे हैं, सप्तर्षि ध्रुवकी परिक्रमा-सी कर रहे हैं, इक्ष्वाकुकुलका नक्षत्र (विशाखा) उपद्रवरहित हो चमक रहा है, विश्वामित्रसहित त्रिशंकु निर्मल प्रकाश कर रहे हैं—इत्यादि शकुनोंका वर्णन बालकाण्ड दोहा ३०२-३०३ में देखिये।

☞ कठिन कार्यकी सिद्धिके लिये प्रस्थान समय '*हरषि राम तब कीन्ह पयाना।*' इस मन्त्ररूप अर्धालीका स्मरण-जप माङ्गलिक माना जाता है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती॥ ५॥
प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देही॥ ६॥
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहिं सोई*॥ ७॥

अर्थ—जिसकी कीर्ति सकल मङ्गलमय है, उसके प्रस्थानमें शकुन होना—यह नीति है। (ऐसे धर्मात्माको प्रयाण-समय शकुन होने ही चाहिये। अधर्मीके पयानमें शकुन होना अनीति है, उसमें शकुन न होने चाहिये)॥ ५॥ प्रभुका प्रस्थान विदेहनन्दिनीजीने जान लिया। उनके बायें अङ्ग फड़ककर मानो कह रहे हैं (कि प्रभु आ रहे हैं, तुमको दर्शन शीघ्र होगा)॥ ६॥ जो-जो शकुन श्रीजानकीजीको होते हैं, वही-वही अपशकुन रावणको हुए (अर्थात् दोनोंके वाम अङ्ग फड़क रहे हैं, स्त्रीका वाम अङ्ग फड़कना शुभ है; अतः वह श्रीसीताजीको शकुन हुआ और पुरुषके वाम अङ्गका फड़कना बुरा है, अतः रावणको ये अपशकुन हो रहे हैं)॥ ७॥

नोट—'*जासु सकल मंगलमय कीती।*.........' इति। (१) कीर्तिका अपभ्रंश '*कीती*' है, छन्दोभंगके भयसे '*नीती*' की जोड़में '*कीती*' रखा। (२)—भाव यह कि इनकी तो कीर्तिके कथन वा श्रवण-मात्रसे ही जीवमात्रका मङ्गल होता है, तब इनके लिये मंगल शकुन होना क्या? पर लोकके लिये नियम बनाया है कि कार्यकी सिद्धिकी सूचनाके लिये शकुन होते हैं, इससे वे नियम सत्य होनेके लिये समयपर अपना कार्य करते रहते हैं। (३) श्रीरामजीकी कीर्ति सर्वमङ्गलमय है, यथा—'*कीरति कलित ललित सिय पी की।*....*कलिमल हरनि विषयरस फीकी। सुभग सिंगार मुक्ति जुबती की॥ दलन रोग भव भूरि अमी की। तात मात सब बिधि तुलसी की॥*' (आरती) उनके लिये शकुन हों वा न हों, वे तो सदा सिद्धकार्य

* (५) से (१०) तक पायकुलक है—(ब्र० चं०)।

हैं। शकुन तो अपनेको सफल करनेके लिये होते हैं, यथा—'*जनु सब साँचे होन हित भये सगुन एक बार।*' (१। ३०३); (४) '*सगुन यह नीती*' का भाव कि श्रीरामजी जानते हैं कि वे रावणका बध करेंगे, सीताजीको ले आवेंगे, फिर भी वे धर्मनीतिके परम सुजान हैं, यथा—'*नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥*' (२। २५४); इसीसे अपने कार्योंमें भी नीतिकी मर्यादा रखते हैं, यथा—'*जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥*'; अतएव प्रस्थानके समय शुभ शकुन हो रहे हैं। इस समय शकुन न होते तो शुभाशुभ शकुनोंकी कभी कोई परवा ही न करता।

टिप्पणी—१ '*फरकि बाम अँग जनु कहि देही*' इति। (क) यथा—'*रामसीयतन सगुन जनाये*', '*भरत आगवनु सूचक कहहीं॥*' (२। ७। ४-६) देखिये। पुनः, यथा—'*मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई*' एवं '*सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर। प्रभु आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर॥*' (७। १) (ख) यहाँ वाम अङ्गोंका फड़कना, यही कहना है। आशय यह कि श्रीजानकीजी भली प्रकार जान गयीं कि प्रभु चल दिये। [मा० त० सु०—१ '*जनु कहि देही*' यह लोकोक्ति है। २—कालगति जनानेके लिये दो ही शास्त्र प्रधान हैं, एक ज्योतिष दूसरा सामुद्रिक। ज्योतिषके गणितसे गणितज्ञ लग्नद्वारा कुछ बिलम्बसे जानते हैं, किन्तु अङ्ग फड़कने आदिसे फलग्रन्थानुसार सब कोई कालगतिको शीघ्र ही जान लेते हैं। अंग-स्फुरण सबको होता है, इसके लिये धर्मी-अधर्मीका कुछ विचार नहीं। और किसी तरह तुरत जान लेना सम्भव न था।]

टिप्पणी—२ '*बैदेही*' पद देकर जनाया कि—(क) जानकीजी जिस समय विरहसे ऐसी व्याकुल थीं कि तनकी सुध-बुध न रह गयी थी, उसी समय यह शकुन होने लगे। वा, (ख) विरहाकुल होकर शरीर रखना नहीं चाहती थीं, उसी समय वाम अङ्ग फड़ककर उन्हें सूचना देने लगे कि प्रभु आ रहे हैं, तुम शरीर न छोड़ो। [अथवा, (ग) प्रभुका प्रस्थान जानकर वे आनन्दमें मग्न हो गयीं, देह-सुध भूल गयीं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ '*असगुन भयेउ रावनहिं सोई*' इति।—(क) श्रीजानकीजीके शकुनमें मिलाकर रावणका अपशकुन कहनेका कारण यह कि एक तो रावणके अपशकुनका हेतु 'सीताजी' ही हैं, यथा—'*जब तें तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥*' (६। ४७; माल्यवन्तवाक्य) दूसरे नाशका हेतु भी श्रीसीताजी ही हैं, यथा—'*तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥*' (५। ३६), '*कालराति निसिचरकुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥*' (५। ४०) (ख)—बात एक ही है, पर उससे एकको शकुन और दूसरेको अपशकुन होना, 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है।

प० प० प्र०—'*जानकी*' शब्दके साथ '*असगुन भयउ रावनहिं सोई*' का भाव यह है कि जैसे शुभ-शकुनोंने प्रयाण कहकर श्रीसीताजीको बहुत आनन्द दिया वैसे ही अशुभ शकुनोंने श्रीरामजीका प्रस्थान कहकर रावणको आनन्द दिया; कारण कि '*प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ*' यह उसका साध्य है।

चला कटकु को बरनै पारा। गरजहिं बानर भालु अपारा॥ ८ ॥
नख आयुध गिरि पादप धारी। चले गगन महि इच्छाचारी॥ ९ ॥
केहरिनाद भालु कपि करहीं। डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं॥ १० ॥

अर्थ—कटक (सेना) चला, उसे वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है (वा, पार कौन वर्णन करे, वह तो अपार है—पं० रा० कु०)। अपार (अगणित) वानर-भालु गर्ज रहे हैं॥ ८॥ नख (नाखून) ही उनके शस्त्र हैं। वे पर्वत और वृक्ष धारण किये हुए हैं। इच्छाचारी हैं, कोई आकाश (मार्ग) से और कोई पृथ्वीपर चल रहे हैं (जैसी जिसकी इच्छा है)॥ ९॥ रीछ और वानर सिंहका-सा गर्जन कर रहे हैं। दिशाओंके हाथी डगमगा रहे हैं और चिंघाड़ते हैं॥ १०॥

टिप्पणी—१ '*चला कटक""भालु अपारा*' इति। अर्थात् कटक अपार है और पृथक्-पृथक् वानर-भालु अपार हैं। ☞प्रथम श्रीरामजीने प्रस्थान किया। इस तरह कि हनुमान्‌जीकी पीठपर श्रीरामजी बैठे

और अंगदजीकी पीठपर लक्ष्मणजी सवार हुए। ये आगे-आगे चल रहे हैं। पीछे-पीछे अपार कटक और अपार वानर-भालु जा रहे हैं। *'को बरनै पारा'*—अर्थात् इसका पार कौन वर्णन करे। जो *'पार'* कहे, वह मूर्ख गिना जायगा। यथा—*'बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा॥'* (४। २२) [नोट—*'पारा'* का अर्थ 'सकना, कर सकना' 'समर्थ होना' भी है, यथा—*'बाली रिपुबल सहइ न पारा'* (४। ६), *'सोक बिकल कछु कहइ न पारा।*]'

टिप्पणी—२ (क) *'नख आयुध गिरि पादप धारी'* से अस्त्र-शस्त्र दोनों जनाये। नख शस्त्र हैं, गिरि और पादप अस्त्र हैं। (शत्रुके समीपस्थ होनेपर *'नख'* उनके आयुध हैं और दूरस्थ होनेपर फेंककर मारनेके लिये गिरि और पादप आयुध हैं।) अथवा नख आयुध हैं अर्थात् इनमें पूरा बल नखोंका है; यथा—*'एक नखन्हि रिपुबपुष बिदारीं', 'नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ'* (६। ९७)। और ऊपरसे देखनेके लिये गिरि और वृक्ष लिये हैं, यथा—*'बिटप महीधर करहिं प्रहारा'* (६। ९७), *'गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं'* (६। ७२)। (ख) पूर्व जो कहा था कि *'रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भए पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा॥'* वही यहाँ चरितार्थ है-*'चले गगन महि इच्छाचारी'*। आकाशमार्गसे बहुत चले, इसीसे *'गगन'* शब्द प्रथम दिया। *'इच्छाचारी'* पदसे उसकी अव्याहतगति सूचित की।

नोट—१ *'गर्जहिं बानर भालु""केहरिनाद""'* इति। क्या गर्जन कर रहे थे? वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वे गरज-गरजकर बारंबार कह रहे थे कि रावण तथा अन्य समस्त राक्षसोंको हम मार डालेंगे। कोई-कोई सिंहनाद करते थे। यथा—**'रावणो नो निहन्तव्यः सर्वे च रजनीचराः। इति गर्जन्ति हरयो राघवस्य समीपतः॥' 'महानादान्विमुञ्चन्ति क्ष्वेलामन्ये प्रचक्रिरे।'** (वाल्मी० ६। ४। ३, ६८)। ☞जैसे मार्गमें जाते हुए तीन बार गर्जन वाल्मीकिजीने लिखा, वैसे ही मानसमें भी मार्गमें तीन बार लिखा गया। मानसमें *'गर्जहिं, केहरिनाद, करहीं'* और *'कटकटहिं'* शब्द हैं और वाल्मीकीयमें **'गर्जन्ति, महानाद'** आदि शब्द हैं। नोट २— **'केहरिनाद'** कहकर **'दिग्गज चिक्करहीं'** कहनेका भाव कि वानरोंका केहरिनाद सुनकर दिग्गज चिग्घाड़ने लगे। वानरोंका सिंहनाद वे न सह सके॥ (रा० कु०)

टिप्पणी—३ (क) वानर बारंबार गरज रहे हैं, इसीसे कविने चार बार गर्जन लिखा। पुनः, (ख) वानर और भालु पारी-पारीसे गर्जन कर रहे हैं। जब वानर गर्जन करते हैं, तब भालु चुप रहते हैं, और जब भालु गरजते हैं तब कपि चुप रहते हैं। दोनोंको पारी-पारीसे प्रधान रखकर गर्जनमें दोनोंकी समानता यहाँ दिखायी है। (१) *'गर्जहिं भालु महाबल कीसा',* यहाँ प्रथम भालु गर्जे। (२) *'गर्जहिं बानर भालु अपारा',* यहाँ वानरको प्रथम कहा, अर्थात् वे प्रथम गर्जे। (३) *'केहरिनाद भालु कपि करहीं'* यहाँ प्रथम भालुको कहकर उनका प्रथम गरजना दिखाया। (४) *'कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं',* यहाँ वानर प्रथम गर्जे। पुनः भाव कि (ग)-जब प्रभुके पास आये तब गर्जे, यथा—*'प्रभुपदपंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा'*—(१)। जब चले तब गर्जे, यथा—*'चला कटक को बरनै पारा। गर्जहिं बानर भालु अपारा'* (२)। मार्गमें गरजते हुए चले, यथा—*'केहरिनाद भालु कपि करहीं। डगमगाहिं""""'* (३)। और, कोटि-कोटि धावा करने लगे तब गर्जे, यथा—*'कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।'* इस प्रकार चार प्रसंगोंसे चार बार गर्जन कहा गया। यह भी जनाया कि गर्जनकी बराबर मार्गभर इस प्रकार ड्योढ़ लगी ही रही।

(हरिगीतिका) छन्द

छंद—चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।
मन हरष दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे॥
कटकटहिं मरकट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुनगन गावहीं॥१॥

अर्थ—दिग्गज चिग्घाड़ते हैं। पृथ्वी हिलती है। पर्वत चंचल हो गये, समुद्र (के जलमें) खलबली पड़ गयी। सूर्य, चन्द्रमा, देवता, मुनि, नागदेव और किन्नरोंके मनमें हर्ष हुआ, उन सबोंके दुःख टले। बहुतेरे भयंकर योद्धा वानर कटकटाते (क्रोधपूर्वक दाँतोंसे शब्द करते) हैं और बहुतसे करोड़ों-करोड़ों मिलकर दौड़ते हैं। 'श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो कि जिनका प्रताप प्रबल है और जो कोसलपुरीके राजा हैं'—इस प्रकार ये सब कोसलनाथ रामचन्द्रजीके गुणगान कर रहे हैं॥ १॥

श्रीलमगोड़ाजी—हमारे यहाँ तो महाकाव्य तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक कवि अपनी पराकाष्ठातक न पहुँचे, अर्थात् 'क्रान्तदर्शी और सूक्ष्मदर्शी' न हो और दैविक और आध्यात्मिक रहस्योंको खोल न दे। हाँ,—होना चाहिये यह सब सरस (मनोहर) रीतिपर।—*'रामरहस्य मनोहर गाऊँ।'* पाश्चात्त्य जगत्‌में वहाँके महाकाव्य (Epic) की परिभाषा केवल इतनी ही है कि किसी घटना या घटनाक्रमको विस्तारके साथ ओजस्वी भाषामें लिखा जाय। रामायणमें दोनों परिभाषाएँ घट जाती हैं, पर होमरके महाकाव्यों या महाभारतकी तरह लड़ाइयोंके वर्णनका इतना बाहुल्य नहीं है कि जी ऊब जाय। केवल मुख्य लड़ाइयाँ लिखी गयी हैं, पर बहुत-सी छोड़ दी गयीं जिनका वृत्तान्त अन्य ग्रन्थोंमें मिलता है।

टिप्पणी—१ जब दिग्गज चिग्घाड़ने लगे तब पृथ्वी काँपी। पृथ्वीपर पर्वत और समुद्र हैं; इससे वे हिल गये, उनमें खलबली पड़ गयी। अतएव इसी क्रमसे कहा। '**चिक्करहिं**' और '**खरभरे**' दोनों बहुवचन क्रियाएँ देकर जनाया कि आठों दिग्गज चिक्कार करने लगे और सातों समुद्र चलायमान हो गये।

टिप्पणी—२ *'मन हरष दिनकर सोम'* इति। (क) यहाँ सूर्यचन्द्रमाको आदिमें रखकर जनाया कि रावण इनको अधिक दुःख देता था, क्योंकि अष्ट दिक्पालोंमें ये प्रथम हैं। यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा……॥'* (१। १८२) अथवा सूर्यचन्द्रमाके प्रथम नाम लेनेसे सब लोकपालोंका ग्रहण हुआ। (ख) रावण सबोंपर चढ़ाई करता था। आज प्रबल शत्रु श्रीरामजी उसपर चढ़ाई कर रहे हैं; इसीसे हर्ष हुआ। [पृथ्वीपर तो गड़बड़ मच गया—*'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे',* परंतु पृथ्वीके हितकर्ता सूर्य और चन्द्रमा *('जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन')* मनमें हर्षित हुए कि अब पृथ्वीका भार उतरेगा और वे लोग स्वयं सुप्रभ होंगे, क्योंकि रावणके सामने इनका तेज फीका पड़ गया था, यथा *'तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेज हीन पावक ससि तरनी॥'* और सुर, मुनि, नाग तथा किन्नरका दुःख टला, क्योंकि रावणके मारे सबको नाकों दम था, यथा—*'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र। मंडलीकमनि रावन राज्य करै निजमंत्र'॥* रावणके राज्यमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी सबकी छिन गयी थी। यज्ञ-यागादि, धर्म-कर्म नहीं होने पाते थे। (वि० त्रि०)] (ग) 'टरे' बहुवचन दिया; क्योंकि इन सबोंको बहुत दुःख है; यथा—*'देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि॥'* (१। १८५)-(१)। *'द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥'* (१। १८१)—(२) *'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरुगिरिखोहा॥'* (१। १८२)—(३)। *'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥'* (६। ८९)-(४)। *'आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥'* (१। १८२)—(५)। *'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥'* (५। २०)—(६)। इत्यादि दुःख टले। '**टले**' अर्थात् अभी नाश नहीं हुए, केवल हट गये हैं, रावणवधपर इनका नाश होगा।

टिप्पणी—३ *'कटकटहिं मर्कट……'* इति। (क) तात्पर्य कि कहीं सामान्य और कहीं विशेष गर्जन करते हैं, कभी कटकट करते हैं, कभी रामगुणगान करने लगते हैं, कभी जय-जयकार करते हैं—सब उत्साहमें भरे हैं। (ख) वानरोंका कटकटाना क्रोधसूचक है; यथा—*'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥'* (५। १९), *'कटकटान कपि कुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी॥'* (६। ३१)। (ग)—'**कटकटहिं**' से जनाया कि शब्द भयदायक है। '**बिकट**' भट हैं अर्थात् देह भयदायक है। *'बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं'* से जनाया कि उनके कर्म भी भयदायक हैं।

टिप्पणी—४ (क) *'जय राम प्रबल प्रताप कोसल नाथ गुनगन·······'* इति। श्रीरामजीकी जय हो, वे रावणादिको मारें, जिनका प्रबल प्रताप है वे रामजी कोसलपुरीके राजा हों अर्थात् राज्य करें, उनके प्रतापसे समस्त ब्रह्माण्डको आनन्द होगा; यथा—*'जब ते राम प्रताप खगेसा·······।'* इस प्रकार गुणगान करते हैं। (ख)—**'प्रबल प्रताप'** का भाव कि प्रताप सूर्यरूप है, यथा—*'जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥'* (७।३१) सूर्यके उदयसे तमका नाश होता है, वैसे ही रामप्रतापसे निशाचरनाश है। अथवा, इस समय वानर प्रबल हुए हैं सो रामजीके प्रतापसे, यथा—*'रामप्रताप प्रबल कपिजूथा।'* अतएव प्रथम प्रतापकी प्रशंसा की। पुनः, (ग) रामसे नाम, प्रतापसे रूप, कोसलनाथसे धाम और गुण-गानसे लीला कही। इस तरह नाम, रूप, लीला और धाम चारोंके गुण गाते हैं।

प० प० प्र०—इस छन्दके प्रथम चरणसे ओज बढ़ता गया और तीसरा चरण पूर्ण ओजस्वी वर्णोंसे भरा है। इन तीन चरणोंमें वीर, भयानक और रौद्र रसोंका आविष्कार है। इन सभी रसोंका परिपाक चतुर्थ चरणमें भक्तिरसमें हुआ। यह गोस्वामीजीका वैशिष्ट्य है। इस छंदमें मर्कटोंका रूप, ध्वनि, क्रिया सब-की-सब भयानक बतायी है पर यह **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** है, यह चतुर्थचरणसे सूचित किया है।

नोट—१ दिग्गज, नाग, किन्नरकी व्याख्या बालकाण्डमें देखिये। श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन अ० १ (८) में देखिये।

छंद—सहि सक न भार उदार अहिपति बारबारहिं* मोहई।
गह† दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई॥
रघुबीर रुचिर पयान प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखत अबिचल पावनी॥ २॥

अर्थ—परम श्रेष्ठ और बड़े भारी शेषनागजी भी इस भारी बोझको नहीं सह सकते, वे बारंबार मोहको प्राप्त हो जाते हैं, और पुनः पुनः (बारबार) कछुएकी कठोर पीठको दाँतोंसे पकड़ते हैं, उसकी कैसी शोभा हो रही है मानो श्रीरघुवीरजीके सुन्दर प्रस्थान-यात्राके मुहूर्तको परम सुहावना जानकर उस अविचल और पवित्र-यात्राको अविचल पवित्र रीतिसे कछुएकी खर्पर (पृष्ठभाग, खपड़ा) पर सर्पराज शेषजी लिख रहे हैं॥ २॥

नोट—१ हनुमन्नाटकके—**नृपतिमुकुटरत्न त्वत्प्रयाणप्रशस्तिं प्लवगबलनिमज्जद् भूभराक्रान्तदेहः। लिखति दशनटङ्कैरुत्पतद्भिः पतद्भिर्जरठकमठभर्तुः खर्परे सर्पराजः॥ श्वासोभिर्प्रतिसन्धिरुन्धितगलप्रतिच्छन्नहारावली रत्नैरप्यदयालुभिः कृतफणाप्राग्भारभङ्गक्रमः। श्रोत्राकाशनिरन्तरालमिलितस्तब्धैः शिरोभिर्भुवं धत्ते वानरवीरविक्रमभराभुग्नो भुजङ्गाधिपः॥'** (७। ३-४) (अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—हे राजाओंके मुकुटमणि! शेषजी, वानरोंके बलसे डूबती हुई पृथ्वीके भारसे आक्रान्त देहवाले आपके यात्राकी प्रशस्ति (अक्षरावली) को उपर उठाते हुए और नीचेको बैठते हुए दंतरूप टाँकीसे वृद्ध कच्छपराजजीकी पीठरूप कपालपर लिखते हैं। सेनाके भारसे बारंबार श्वास लेनेके कारण गलेके रुकनेसे जिनकी हारावलीके रत्न छिन्न हो गये हैं और परस्पर सन्धानकी पीड़ाको न जाननेवाले और वानरोंके पराक्रमसे जो भार हो रहा है उससे वक्र (टेढ़े) हुए और फणोंके व्यग्र होनेसे भंग होते हुए शेषजी कानोंमें निरन्तर अवकाशशून्य होनेसे स्वभावसे सुकुमार शिरोंके द्वारा शेषजीने कठिनतासे पृथ्वीको धारण किया।')—इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये। इसके भाव इस छंदमें हैं। (नोट—३ और ४ भी देखिये)।

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है महाकविकी यह ओजपूर्ण युक्ति! अंग्रेजी पढ़े लोग सोचे कि मिल्टनकेसे ओज (Miltonic Grandeur) से मानसकी कला कितनी बढ़ी-चढ़ी है!

---

* बार बार बिमोहई—वंदनपाठक, ब्र० चं० † गहि—गौड़जी, ना० प्र०, ब्र० चं०।